उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—३ जनवरी—१९८४ अंक १

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा' ॥

संपादक
डॉ० केदारनाथ लाभ
सह संपादक
शिशिर कुमार मल्लिक

संपादकीय कार्यालय :
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

ठीक मृत्यु के समय मनुष्य जो कुछ सोचता है उसी के अनुसार उसका अगला जन्म होता है; इसलिए साधना की अत्यन्त आवश्यकता है। निरन्तर अभ्यास करते हुए जब मन सब तरह की सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है तो उसमें सब समय केवल ईश्वर का ही चिन्तन होने लगता है, फिर तो मृत्यु के समय भी वह नहीं छूटता।

(२)

यदि एक बार कोई तीव्र वैराग्य के द्वारा भगवान की प्राप्ति कर ले तो फिर उसमें स्त्रियों के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती। यहाँ तक कि घर में रहकर अपनी स्त्री से भी उसे कोई भय नहीं रहता। अगर लोहे के एक ओर बड़ा और दूसरी ओर छोटा चुम्बक हो तो लोहे को कौन खींच सकेगा? नि:सन्देह बड़ा चुम्बक ही। ईश्वर बडा चुम्बक है और कामिनी छोटा चुम्बक। ईश्वर के आकर्षण के सामने भला कामिनी क्या कर सकती है!

(३)

ईश्वर दो बार हँसते हैं। एक बार उस समय, जब किसी को कठिन बीमारी हो गई हो और वह मरने ही वाला हो, और ऐसे समय वैद्य आकर रोगी की माता से कहे, "घबड़ाओ मत माँ जी, चिन्ता की कोई बात नहीं है; तुम्हारे बेटे को बचाने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर है।" और दूसरी बार तब, जब भाई-भाई रस्सी पकड़कर जमीन का बँटवारा करते हुए कहते हैं, "इधर का हिस्सा मेरा और उधर वाला तेरा।"

विवेकानन्द पञ्चकम्

—स्वामी रामकृष्णानन्द

अनित्यदृश्येषु विविच्य नित्यं तस्मिन्समाधत्त इह स्म लीलया ।
विवेकवैराग्यविशुद्धचित्तं योऽसौ विवेकी तमहं नमामि ।। १

विवेकजानन्दनिमग्नचित्तं विवेकदानैकविनोदशीलम् ।
विवेकभासा कमनीयकान्तिं विवेकिमं तं सततं नमामि ।। २

ऋतं च विज्ञानमधिश्रयन्निरंतरं चादिमध्यान्तहीनम् ।
सुखं सुरूपं प्रकरोति यस्य आनन्दमूर्त्तिं तमहं नमामि ।। ३

सूर्यो यथांधं हि तमो निहन्ति विष्णुर्यथा दुष्टजनांश्छिनत्ति ।
तथैव यस्याखिलनेत्रलोभं रूपं त्रितापं विमुखीकरोति ।। ४

तं देशिकेन्द्रं परमं पवित्रं विश्वस्य पालं मधुरं यतीन्द्रम् ।
हिताय नृणां नरमूर्त्तिमन्तं विवेक आनन्दमहं नमामि ।। ५

नमः श्रीयतिराजाय विवेकानन्द सूरये ।
सच्चित्सुखस्वरूपाय स्वामिने तापहारिणे ।। ६

भावार्थ—इस संसार में अनित्य वस्तुओं में से नित्य वस्तु को पृथक् कर जिन विवेकवान् पुरुष ने लीला-छल से उस नित्य वस्तु से, विवेक और वैराग्य के प्रभाव से पवित्र चित्त को समाहित कर लिया था, उन विवेकी को मैं नमन् करता हूँ ।१

विवेक से उत्पन्न आनन्द में जिनका चित्त निमग्न रहता था, जो विवेक का दानकर ही आनन्दित रहते थे, विवेक की आभा से जिनकी कान्ति कमनीय थी, अर्थात् विवेक ज्योति से जो रमणीय रूपशाली थे, उन्हीं विवेकी की मैं सर्वदा वन्दना करता हूँ ।२

जिनका सुन्दर रूप सत्य और विज्ञान का आश्रय लेकर आदि, मध्य और अन्त से रहित निरवकाश नित्य सुख प्रदान करता है, उन्हीं आनन्दस्वरूप मूर्त्तिधारी को मैं प्रणाम करता हूँ ।३

सूर्य जिस प्रकार गहन गंभीर अंधकार का नाश करते हैं, उसी प्रकार जिनका अखिलनयन लोभनीय रूप तीनों तापों (दैहिक, दैविक और भौतिक ताप) को मिटाता है—४

मानव के कल्याणार्थ अवतीर्ण उन्हीं आचार्यप्रवर, परम पवित्र, जगत्-पालक, आनन्दमय, योगिश्रेष्ठ विवेकानन्द को मैं प्रणाम करता हूँ ।५

श्रीमान्, संन्यासिराज, सच्चिदानन्दस्वरूप त्रितापहारी और सर्वज्ञ स्वामी विवेकानन्द को नमस्कार है ।६

नमन् तुम्हें मेरा शत बार

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

भगवान श्रीरामकृष्णदेव, श्रीमाँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्दजी महाराज की असीम-अनन्त कृपा और करुणा के फलस्वरूप, 'विवेक शिखा' इस अंक के साथ ही अपने जीवन के तीसरे वर्ष में प्रवेश कर रही है। मैं विनत-प्रणत हूँ अपने इन कृपा-सिंधु त्रिदेवों के पाद-पद्मों में, जो लोक-मंगल के लिए क्षण-प्रतिक्षण विविध विधानों का आयोजन करते ही रहते हैं। यह, ये त्रिदेव ही हैं जो 'विवेक शिखा' के शब्द-शब्द में अर्थ बनकर विराजते हैं, वर्ण-वर्ण में चेतना की शिखा बनकर लहराते हैं, अक्षर-अक्षर में अपने अनन्त अमृत-आशीषों की बरसा करते हैं। बार-बार आभार के साथ कृतज्ञतापूर्ण नमस्कार है इन पुरुषोत्तमों के चरण-रज को।

विवेक शिखा के समस्त लेखकों, ग्राहकों, विज्ञापन-दाताओं और पाठकों का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके स्नेह सहयोग से विवेक शिखा अनेक बाधाओं के रहते हुए भी विगत दो वर्षों से प्रकाशित होती रही। रामकृष्ण मिशन के उन तमाम श्रद्धेय साधुओं एवं केन्द्रों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ जो विभिन्न रूपों में सहायता करने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं। उन्हें मेरा मौन-मूक नमन् है।

और अपने उन कृपालु आत्मीय सहयोगियों के लिए क्या कहूँ, जो बिना किसी स्वार्थ या लोभ के अपने को अंतः सलिला की भाँति अदृश्य रखकर, विवेक शिखा के प्रचार-प्रसार में नित्य निरत रहते हैं, इसके लिए अर्थ-संचय या अर्थ-दान देने को सदैव तत्पर रहते हैं तथा सदैव निष्काम भाव से अपना सक्रिय सहयोग देने को प्रस्तुत रहते हैं! उनके लिए मैं अपने त्रिदेवों से आन्तरिक प्रार्थना करता हूँ कि वे निरंतर उनका मंगल करें।

मेरे प्रिय मित्रो, आज हम एक विकट परिस्थिति से, एक आत्मघाती दौर से, एक अंधकारपूर्ण भयावह वातावरण से गुजर रहे हैं। सामाजिक संरचना में लगे हुए जो वयोवृद्ध जन हैं, वे अपनी स्वार्थ-लिप्सा में इस कदर आकंठ डूबे हुए हैं कि नैतिक मूल्यों, सदाचारों और स्वस्थ जीवनादर्शों के लिए उनके मन में कोई आकांक्षा या अभीप्सा ही शेष नहीं रह गयी है। अपनी उम्र की इस सीढ़ी पर वे पहुँच चुके हैं कि अपनी मान-सिकता में किसी प्रकार का परिवर्तन वे ला ही नहीं सकते। सत्ता, स्वार्थपरता और भोग—एकांत भोग के अतिरिक्त उनके जीवन का कोई दर्शन ही नहीं है। मुझे उनसे कुछ कहना नहीं है, क्योंकि उनसे कोई आशा ही नहीं रही। व्यक्ति और समाज के अर्थपूर्ण, सोद्देश्य परिवर्तन के औजार वे बन नहीं सकते। अन्य वृद्धजन अपने जीवन के संघर्ष से इस कदर हारे-थके और टूटे प्रतीत होते हैं मानो निराशा के मूर्त हिमालय हों। वे धार्मिक आयोजनों में जाते हैं, कुछ गीता-रामायण का पारायण करते हैं, कुछ प्रवचन आदि भी कर लेते हैं और बाकी समय पुरानी जीवन-पद्धति की पटरी पर ही अपनी जिंदगी की गाड़ी को सरकाते चलते हैं। जो न तो स्वयं प्रज्वलित हैं न दूसरों को प्रज्वलित कर सकते हैं, उनसे आशा ही क्या की जाय!

और युवा वर्ग! राष्ट्र की अपरिमेय, अजेय शक्ति का रोर करता हुआ अपार सागर! अनन्त ऊर्जा का संचित भांडार! प्रचंड-प्रखर आलोक का भास्वर सौर मंडल! आह! कितनी अपेक्षाएँ हैं देश को अपने इस शक्ति-सिन्धु से! लेकिन यह वर्ग आज स्वयं विसंगतियों, भ्रष्टाचारों और दुर्विचारों का केन्द्रागार हो गया है। एक दिग्भ्रांत, पथहारा, लक्ष्यहीन- कुत्सा, काम और

हिंसा में आबद्ध, यह वर्ग स्वयं ही सारे राष्ट्र के लिए प्रश्न-चिह्न बनकर रह गया है। इस वर्ग के बीच नीति और आचार तथा धर्म-दर्शन की निर्देशक-रेखाएँ टूट रही हैं। हिंसा और संभोग-वृत्ति, मादक द्रव्यों, नशीली दवाओं तथा नींद की गोलियों के सेवन एवं चिंता और तनावों की अतिशयता से यह वर्ग जर्जर होता जा रहा है। कामोत्तेजक एवं हिंसावृत्ति को बढ़ाने वाली पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें, सिनेमा, टेलिविजन आदि ने इस वर्ग को घुन की तरह खाना शुरू कर दिया है। फिर क्या उपाय है इस राष्ट्र के उद्धार का ?

नहीं, हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। अँधेरा कितना भी गहरा क्यों न हो, हम दीपक जलाना नहीं छोड़ेंगे। हमें दीपक जलाना ही होगा। हर घर, हर गली, हर राह, हर चौराहे पर हमें दिया जलाना होगा—इस दैत्याकार अन्धकार से जूझने के लिए। कहाँ से आयगा वह दीया ? कौन होगा वह दीपक ? यह दीया बाहर से, किसी कुंभकार की दूकान से खरीद कर नहीं आयगा। आत्म दीपोभव स्वयं दीपक बनना होगा हमें। मोमबत्ती की तरह बाहर के अंधकार को मिटाने के लिए तिल-तिल कर जलना होगा, गलना होगा, हमको, हम सबको। एक मनुष्य—एक सम्पूर्ण मनुष्य बनकर ही हम वह दीपक हो सकेंगे। इसीलिए, स्वामी विवेकानन्द मनुष्य-निर्माण पर इतना जोर दिया करते थे। मनुष्य-निर्माण ही मानो उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था, केन्द्रीय विषय था।

स्वामीजी ने किसी दर्शन-पद्धति की रचना नहीं की, धार्मिक-सम्प्रदाय का गठन नहीं किया, राजनीतिक-दल की स्थापना नहीं की। इन सारी चीजों के लिए उनके पास पर्याप्त क्षमता थी। लेकिन यह सब उन्होंने नहीं किया तो आखिर क्यों ? इस प्रश्न का ही मानो उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था—"सामाजिक या राजनैतिक सभी पद्धतियों का आधार मनुष्य की अच्छाई पर निर्भर करता है। कोई राष्ट्र इसलिए महान् या उत्तम नहीं होता कि उसकी संसद ऐसा या वैसा कानून बनाती है, बल्कि इसलिए कि उसके मनुष्य अच्छे और महान् हैं। संसार के समस्त वैभवों से मनुष्य अधिक मूल्यवान होते हैं......इसलिए सबसे पहले मनुष्य बनाओ।" मनुष्य-निर्माण के लिए स्वामी जी इतने आतुर रहते थे कि एक बार अपनी प्रमुख शिष्या भगिनी निवेदिता से उन्होंने कहा था, 'मनुष्य-निर्माण करना ही मेरा अपना उद्देश्य है।'

कैसे हम मनुष्य बन सकते हैं ? स्वामीजी ने इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित सिद्धान्त स्थिर किये थे जो आज भी हमलोगों के लिए सामान्यतः और युवा वर्ग के लिए विशेषतः उपयोगी सिद्ध होंगे। पहली बात है शिक्षा—उपयुक्त शिक्षा। एक पूर्ण मनुष्य वह है जिसकी आध्यात्मिक चेतना पूर्णतः जाग्रत हो चुकी है। यह चेतना शिक्षा के द्वारा ही जगती है। स्वामीजी के अनुसार—'मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति को शिक्षा कहते हैं।' अर्थात् शिक्षा पूर्णता प्रदान नहीं करती, कहीं बाहर से पूर्णता का आयात कर मनुष्य को दे नहीं देती, बल्कि पूर्णता जो मनुष्य में पहले से ही स्वयं निहित है उसके उद्घाटन या प्रकाशन में वह मात्र सहायिका बनती है। इस दृष्टि से शिक्षा मात्र एक ऐसी प्रक्रिया बन जाती है जो हमारे भीतर आवृत पूर्णता को अभिव्यक्त होने में सहायता प्रदान करती है। स्वामीजी ने इसे समझाने के लिए पतंजलि के योगसूत्र के एक सूत्र—ततः क्षेत्रिकवत्—को उद्धृत कर उसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'जैसे खेत को सींचने के लिए पानी नहर में पहले से मौजूद रहता है, केवल वह फाटक के द्वारा बन्द होता है। किसान फाटक खोल देता है और गुरुत्वाकर्षण के नियम से उस नहर का पानी स्वयं बहकर खेत को सींच देता है। इसी प्रकार सभी प्रगति और शक्ति प्रत्येक मनुष्य में स्वयं निहित हैं; पूर्णता मनुष्य की प्रकृति है, केवल इस पर बाड़ा लगा हुआ है, और इसे सही दिशा में जाने से प्रतिबन्धित कर दिया गया है। यदि कोई अपने प्रतिबन्ध को हटा ले तो उसकी प्रकृति स्वतः फूट पड़ेगी। तब मनुष्य वह शक्ति प्राप्त कर ले सकता है जो पहले से उसकी अपनी है।

ज्यों ही यह बन्धन टूटता है और प्रकृति फूट पड़ती है त्योंही जिसे हम दुष्ट कहते हैं वह साधु हो जाता है। यह हमारी प्रकृति है जो हमें पूर्णता की ओर खींच रही है और अंततः वह प्रत्येक मनुष्य को पूर्णता में प्रतिष्ठित करेगी ही।"

शिक्षा के सम्बन्ध में स्वामीजी का यह क्रान्तिकारी विचार है। इस पर हमें ध्यान देना ही होगा। ऐसी शिक्षा हमें स्वयं धर्मोन्मुखी बना देगी। क्योंकि धर्म भी आखिर है क्या? स्वामीजी की इस सम्बन्ध में भी एक मौलिक परिभाषा है।—"मनुष्य में अन्तर्निहित देवत्व के उद्घाटन को धर्म कहते हैं।" अब हम जरा सोचें। पूर्णता और देवत्व ये दोनों महान शक्तियाँ मनुष्य में पहले से वर्त्तमान हैं। जिस प्रक्रिया से हमारी पूर्णता अभिव्यंजित होती है वह है शिक्षा और जिस प्रक्रिया से हमारा देवत्व प्रकट होता है वह है धर्म। लेकिन क्या पूर्णता और देवत्व भिन्न तत्व हैं? नहीं। जो पूर्ण है वही देवता है। अतएव, शिक्षा के द्वारा जब हम अपने मूल स्वरूप को जानकर पूर्णत्व में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब हम देवता ही तो हो जाते हैं। हम जान चुके होते हैं कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—अहम् ब्रह्मास्मि।

अतः जो शिक्षा हमें अपने पूर्णत्व में प्रतिष्ठित कर देती है, वह हमें हिंसा, भोग और कुत्सा से स्वयं उबार लेती है। वह हमें अद्वैत में प्रतिष्ठित कर देती हैं। वह हमें भास्वर दीपशिखा बना देती है। और तब हम वह दीपक हो जाते हैं जो अन्धकार का वक्ष विदीर्ण करने में सफल-समर्थ होता है।

दूसरी बात यह है कि यह शिक्षा केवल कुछ लोगों के लिए न होकर, ब्राह्मण से चाण्डाल तक, सब के लिए उपलब्ध हो, सुलभ हो। सामाजिक सुधार के लिए अगर मनुष्य का निर्माण आवश्यक है तो स्वामीजी की दृष्टि में यह भी आवश्यक है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब में समाज के हर वर्ग का समान अधिकार हो, समान प्रवेश हो। यह कैसे होगा? समाज के शिक्षित युवकों को उन अशेष अनन्त अशिक्षितों के पास जाना होगा, उन्हें शिक्षा के आलोक से दीपित करने। स्वामीजी कहा करते थे, 'अगर पहाड़ मोहम्मद के पास नहीं आता तो मोहम्मद को ही पहाड़ के पास जाना पड़ेगा।' स्वामीजी का विचार था कि 'भारत में दुःखों का मूल कारण है उच्च और निम्न वर्ग में फैली हुई चौड़ी खाई। जब तक यह भेद दूर नहीं होता तब तक लोगों के कल्याण की कोई आशा नहीं है। इसलिए लोगों को शिक्षा और धार्मिक ज्ञान प्रदान करने के लिए सभी स्थानों पर उपदेशकों को निश्चयपूर्वक हमें भेजना चाहिए।'

तीसरी बात यह है कि मनुष्य-निर्माण करनेवाली शिक्षा चरित्र-निर्माण करनेवाली हो। हमारे विचार, आचार और आदतें हमारे चरित्र-निर्माण के सहायक तत्व हैं। विचार से आचार बनता है। आचार से आदतें बनती हैं। आदतें चरित्र का निर्माण करती हैं और चरित्र हमारे भाग्य का निर्माण करता है। इसलिए सर्वप्रथम विचार को सुनियोजित करना पड़ेगा। सुनियोजित विचार के लिए मन की एकाग्रता आवश्यक है। मन की एकाग्रता के लिए ध्यान सर्वाधिक सहायक तत्व है। अतएव, प्रत्येक युवक को कम-से-कम प्रतिदिन १५-२० मिनटों तक ध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। योगी, कलाकार, वैज्ञानिक, खिलाड़ी साहित्यिक—सबकी सफलता का राज यही है कि वे एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करने मे सफल होते हैं।

फिर हमारी शिक्षा ऐसी हो जो 'लोहे की मांस-पेशियाँ, इस्पात की शिराएँ तथा 'सुदृढ़ इच्छा-शक्ति' के निर्माण में सहायिका हो—यह चौथी बात है। 'सभी शिक्षाओं, सभी प्रशिक्षणों का अंतिम लक्ष्य मनुष्य-निर्माण होना चाहिए। सभी प्रशिक्षणों का उद्देश्य होना चाहिए मनुष्य को विकसित करना।'—यह स्वामीजी की धारणा थी। और इसके लिए शिक्षकों को भी चरित्रवान होना होगा। अगर हम चाहते हैं कि हमारे युवक विचार और आचार में पवित्र हों, निःस्वार्थ और और त्यागपूर्ण हों, सेवा और श्रद्धा-भाव से सम्पन्न हों तो शिक्षकों को भी अपना चरित्र दहकती अग्नि की भाँति पवित्र और ऊर्ध्वगामी बनाना होगा। उन्हें केवल

कक्षा में व्याख्यान द्वारा छात्रों के मस्तिष्क में अपने शब्द ठूँस कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेने की अपेक्षा अपने छात्रों के प्रति स्नेहशील और सहानुभूतिपूर्ण भी होना होगा। उन्हें अपने शब्दों से अधिक अपने चरित्र के गुणों से छात्रों में मानव जीवन के उच्चतम लक्ष्य की अनुभूति प्राप्त करते की प्रेरणा जगानी होगी।

आज जब कि धार्मिक मूल्य ढहते जा रहे हैं, नैतिक आदर्श चकनाचूर हो रहे हैं, विश्वास विखंडित हो रहे हैं, पारिवारिक अनुशासन भंग होता जा रहा है, राजनीतिकदल युवा शक्ति पर कब्जा करने की होड़ लगाये हुए हैं, संवाद साधन (रेडियो, सिनेमा, टी०वी०, पत्र-पत्रिकाएँ आदि) स्वच्छंदतावादी मनोवृत्ति, अनैतिकता और मार-काट की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर रहे हैं, तब स्वाभाविक है कि आधुनिक युवा वर्ग यह तय नहीं कर पाये कि उसे किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। ऐसी स्थिति में भी स्वामीजी के उपदेश ज्योतिस्तंभ बनकर हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। वे यही मानते हैं कि धर्म का सार तत्व है मनुष्य-निर्माण की शिक्षा देना। धर्म है 'बनना और बनाना।' अर्थात् स्वयं अपने चरित्र का निर्माण करना और दूसरों के चरित्र को बनाना।

जब हमारा समाज ऐसे चरित्रवान मनुष्यों से भर जायगा तब स्वभावतः हमारा राष्ट्र सर्वविध सम्पन्न हो जायगा। ऐसे ही मनुष्यों से देश बनता है। ऐसे ही मनुष्यों से राष्ट्रीयता की भावना बलवती होती है। ऐसे ही मनुष्य देवता का संगीत बनते हैं। ऐसे ही मनष्यों से सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के कमल खिलते हैं। ऐसे ही मनुष्यों से विज्ञान और धर्म, इड़ा और श्रद्धा, बुद्धि और हृदय गलबाँही करने में समर्थ होते हैं।

मनुष्य-निर्माण की शिक्षा से ही देश की एकता और अखंडता भी सुरक्षित रह सकती है। स्वामी विवेकानन्द ने प्रत्येक भारतवासी को झकझोरते हुए अपनी अग्निमयी वाणी से सम्बोधित किया था—"हे भारत, भूलो नहीं—तुम्हारी नारी जाति की आदर्श हैं सीता, सावित्री, दमयन्ती; भूलो नहीं—तुम्हारे उपास्य हैं उमानाथ सर्वत्यागी शंकर; भूलो नहीं—तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन, तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए—अपने व्यक्तिगत सुख के लिए—नहीं है; तुम जन्म से ही 'माँ' के लिए बलिप्रदत्त हो; भूलो नहीं—तुम्हारा समाज उस विराट् महामाया की छाया मात्र है; भूलो नहीं—नीच जाति, मूर्ख, दरिद्र, अज्ञ, मोची, मेहतर तुम्हारा रक्त हैं, तुम्हारे भाई हैं। हे वीर, साहस का अवलम्बन करो; दर्प के साथ कहो—मैं भारतवासी हूँ, भारतवासी मेरे भाई हैं। कहो—मूर्ख भारतवासी, दरिद्र भारतवासी ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी मेरे भाई हैं, तुम भी कटिमात्र वस्त्रावृत होकर दर्प के साथ कहो—भारतवासी मेरे भाई हैं, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का सामाज मेरे बचपन का झूला, मेरे यौवन की फुलवारी, मेरे बुढ़ापे की काशी है; कहो भाई—भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है; और दिन-रात कहो 'हे गौरीनाथ, हे जगदम्बे, मुझे मनुष्यत्व दो; माँ मेरी दुर्बलता—कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बना दो।"

मनुष्य बनाने की कैसी तड़प थी स्वामी विवेकानन्द जी में यह हम उनके उपर्युक्त कथन से ही समझ सकते हैं। आवश्यकता है, इस कथन पर मनन-चिन्तन और आचरण करने की।

स्वामीजी का आविर्भाव १२ जनवरी, १८६३ ई० को हुआ था। आज १९८४ ई० की जनवरी है। उनके पावन जन्मोत्सव के परम मांगलिक अवसर पर हम उनको नमन् करते हैं—शत-सहस्र नमन् करते हैं। आइए, हम सब समवेत स्वर से उनसे प्रार्थना करें कि वे हममें ऐसी शक्ति और ऊर्जा का संचार करें कि हम भारत के समस्त नागरिक, विशेषकर युव-जन उनकी आकांक्षाओं और अपेक्षाओं के अनुरूप मनुष्य बन सकें—एक पूर्ण और समग्र मनुष्य, एक दिव्य और परमोज्वल मनुष्य। जय श्रीरामकृष्ण ! जय स्वामी विवेकानन्दजी महाराज !! ◘

आधुनिक बुद्ध-विवेकानन्द

—श्रीमत् स्वामी मुख्यानन्दजी महाराज
आचार्य, पी०टी०सी०, बेलुड़ मठ ।

(स्वामी मुख्यानन्दजी का रामकृष्ण संघ से सक्रिय सम्बन्ध १९३५ ई० में रामकृष्ण आश्रम, बंगलोर से हुआ । स्वामी रंगनाथानन्दजी के साथ इन्होंने रामकृष्ण मठ, करांची में सन् १९४३ ई० में ब्रह्मचारी के रूप में विधिवत कार्य ग्रहण किया । वहाँ वे अगस्त, १९४८ (मठ के बन्द हो जाने) तक रहे । स्वामी विवेकानन्द के प्रख्यात शिष्य स्वामी विरजानन्द से सन् १९३९ में दीक्षित होकर आप १९५२ में संन्यासी हुए । आप कुछ वर्षों तक प्रबुद्ध भारत के सम्पादक तथा कल्चरल हेरीटेज ऑफ इण्डिया (८ खंडों में प्रकाशित) के प्रकाशन प्रभारी थे । १९५८ में आप रामकृष्ण वेदान्त सेन्टर, लंदन के सहायक मिनिस्टर होकर गये और दो वर्षों तक वहाँ रहे । इन्टरनेशनल कल्चरल सेन्टर, कोलम्बो के प्रभारी भी आप कुछ दिनों तक थे । १९७६ ई० से आप संन्यासियों के प्रशिक्षण कॉलेज, बेलुड़ मठ के आचार्य हैं । देश-विदेश में आपने अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला, मराठी, कन्नड़ आदि भाषाओं में अनेक प्रवचन दिये हैं ।—सं०)

कुछ वर्षों पूर्व जिस भगवान बुद्ध की पच्चीस-सौवीं जन्म-तिथि के उपलक्ष्य ने इस देश तथा संसार के सुदूर क्षेत्रों के करोड़ों लोगों के मनों में अद्वितीय उत्साह का संचार किया था, वे भारत के महत्तम सपूतों में ही नहीं, बल्कि संसार में आज तक जाने गाये अन्यतम, श्रेष्ठ महापुरुषों में एक हैं । आज संसार में बुद्ध के अनुयायियों की संख्या सर्वाधिक है । इस अद्भुत चमत्कार का क्या रहस्य है ? बुद्ध-धर्म का विस्तार सैन्य-शक्ति के सहारे नहीं हुआ था । कोई दवाव नहीं, कोई रक्तपात नहीं । अग्रत: वरद आशीष और पृष्ठत: शान्ति से समन्वित, भगवान बुद्ध के चतुर्दिक प्रेषित साधु-संन्यासियों द्वारा उनके संदेश का सर्वत्र प्रसार हुआ था, जिन्हें स्वयं बुद्ध ने संतप्त मानवता को अपने उस अमृत सिद्धांत का उपदेश प्रदान करने के लिए नियोजित किया, जो "आदि, मध्य और अन्त में भी मंगलमय है" तथा जिसका 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' से संप्रेरित प्रवचन हुआ है । उनके विचार एवं सिद्धांत महान थे, उनका व्यावहारिक नैतिक उपदेश उत्कृष्ट था, और उनका व्यक्तिगत चरित्र उदात्त था, जो बुद्धिवादी व्यर्थालाप की शुष्क अस्थिमयता में प्राण का संचार करता था तथा उनकी वायवीय कल्पनाओं को वास्तविकता की जमीन प्रदान करता था । और भी उत्कृष्ट एवं महान है उनका प्रेम जो मानव-आत्मा का उत्थापन कर मानव मात्र को विश्व-भ्रातृत्व के तारों में परस्पर जोड़ देनेवाला है ।

संतप्त मानवता के प्रति प्रेम ही बुद्ध के चरित्र का प्रधान तत्व है और यही उनके समग्र जीवन, कर्म एवं उपदेशों में अनुस्यूत और अभिव्यक्त है । प्रेम एवं सौम्य करुणा के ये दिव्य गुण उनको उस ईश्वरीय प्रभामंडल से समलंकृत करते हैं, जिससे सम्मोहित और आकर्षित होकर विश्व ने उनके धर्म को स्वीकार किया है । अपने सिद्धान्तों के चमत्कार से उतना नहीं, बल्कि बुद्ध के चरित्र के आकर्षण एवं सम्मोहन से उनके धर्म का इतना व्यापक और असाधारण प्रसार हुआ । न बौद्ध और न तो हिन्दू धार्मिक वाङ्गमय में बुद्ध को प्रकाण्ड बुद्धिवादी के रूप में बताया गया है ! बौद्ध धार्मिक साहित्य में

इनके लिए 'महाकारुणिक' और 'आर्त्तबन्धु' जैसे विशेषणों का प्रयोग हुआ है। जयदेव ने अपने 'दशावतार-स्तोत्र' में सदय हृदय और करुणा का प्रसार करने वाले के रूप में बुद्ध की स्तुति की है। उनका हृदय ऐसा महान था कि उन्होंने मानवीय पीड़ा की समस्या का समाधान खोजने के लिए साम्राज्य एवं समस्त राजकीय सुख-भोगों का त्याग किया। वे एक ऐसे हृदय थे जिन्होंने निर्वाण के दिव्य घनानन्द में लय होना इसलिए अस्वीकार किया कि स्वयं को दूसरों के दुःख का निवारण करने में नियोजित कर सकें। इतना ही नहीं, उनका हृदय ऐसा था कि किसी मूक पशु के लिए भी वे अपना जीवन समर्पित करने को तैयार थे। क्या उन्होंने समग्र जीवन की एकता का अनुभव नहीं किया था और इस तथ्य का कि सारे नाम-रूप मिथ्या और भ्रमात्मक हैं?

विवेकानन्द के जीवन का अध्ययन करने पर कोई भी इन दो महापुरुषों के जीवन की अत्यधिक समानता से विस्मित हो जाता है। उनका जीवन और संदेश मानो भगवान बुद्ध के जीवन और संदेश की ही प्रतिध्वनि हो जो मूल को विशिष्ट स्पष्टता के साथ उच्चतर स्वर में पुनः प्रस्तुत करती है, क्योंकि विवेकानन्द हमारे समकालीन हैं। इस प्रकार इस संदर्भ में विवेकानन्द के जीवन के कतिपय अंशों का अध्ययन परम उपादेय होगा क्योंकि वह पच्चीस शताब्दी पूर्व से आते हुए सुविख्यात भगवान बुद्ध के पौराणिक स्तर के जीवन की झलक प्रदान करता है। क्या यह मात्र संयोग है कि विवेकानन्द बुद्ध को उच्चतम सम्मान प्रदान करते थे और बहुधा श्रद्धापूर्वक उनके नाम और उदाहरण का आवाहन करते थे?

लंदन में साधकों की एक कक्षा के समक्ष ध्यान की व्याख्या करते हुए समाधिस्थ विवेकानन्द के प्रसिद्ध चित्र का अवलोकन करने पर जो पहली बात आकर्षित करती है, वह उसमें और ध्यानी-बुद्ध की प्रशस्त मूर्त्तियों में विद्यमान समानता ही है। पद्मासन में स्थित, सिर पर सजी-हुई पगड़ी जो बुद्ध के सिर पर बंधी हुई केश-राशि के ही समान है, सौम्य एवं शांत मुखमण्डल जिसमें उनकी प्रसिद्ध विशाल आँखें ध्यान में बंद हैं—परम सत्य की गहराई से अन्तर्मन में तदात्म होती हुई, मानो इन्द्रियवृत्तियों के पहले से ही पूर्ण सुशांत हो जाने से उत्पन्न अखण्ड शांति एवं संतुलन में अन्तःस्थित हों। जैसा रोम्याँ रोलाँ ने बताया है, विवेकानन्द के इस चित्र का अवलोकन प्राचीन और अत्यन्त उत्तम ध्यानी-बुद्ध की रूपाकृति की याद दिलाता है। सितम्बर १८९३ ई० में शिकागो की धर्म-सभा के मंच पर उपस्थित स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में 'डेली क्रोनिकल' के संपादक ने लिखा था : "उनकी शारीरिक आकृति ध्यानी-बुद्ध के प्रशस्त-प्राचीन मुखमण्डल से अत्यधिक आश्चर्यजनक रूप से मिलती-जुलती है।"

कुमारी मैक्लियोड के नाम ३ अक्टूबर, १९०१ ई० के पत्र में भगिनी निवेदिता ने स्पष्ट लिखा है : "टाटा ने (प्रसिद्ध उद्योगपति श्री जे० एन० टाटा जिन्होंने १८९३ ई० में स्वामी विवेकानन्द के साथ जहाज में यात्रा की और उनसे बातें की थी) मुझसे कहा था कि जब स्वामीजी जापान में थे तो उन्हें देखकर सभी लोग बुद्ध के साथ उनकी समानता से तत्काल प्रभावित होते थे।"

क्या यह मात्र भौतिक संयोग है या यह बाह्य साम्य अनिवार्यतः उनकी आंतरिक-स्थिति की अभिव्यक्ति है? 'दि लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द' में उल्लिखित है कि बाल्यावस्था में भी स्वामीजी ध्यान में तल्लीन हो जाते थे और एकबार ऐसी ही एक स्थिति में उनके प्रकोष्ठ में बुद्ध की आलोकमय—आकृति प्रविष्ट हुई और उन्हें आशीष देकर उन्हीं में विलीन हो गयी। बुद्ध की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे एक क्षत्रिय के राजकीय साँचे मे ढले हुए थे और स्वामीजी भी वैसे ही थे। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर दोनों अति मानवीय थे। दोनों में सत्य और बोधातीत शान्ति के लिए अदम्य ललक थी। सत्य की उपलब्धि के बाद उन्होंने समाधि-सुख में रमण न करके मानवता की पीड़ा को दूर करने और उसे सुख-शान्ति प्रदान करने की भरपूर चेष्टा की।

हम पाते हैं कि बुद्ध के प्रति स्वामीजी का यह

विचित्र आकर्षण उनके जीवन-पर्यन्त बना रहा। "उन्होंने अपने को बौद्ध-धार्मिक वाङ्मय से संतृप्त कर लिया था। भगवान तथागत की उत्कृष्ट प्रज्ञा, उनके प्रख्यात् विवेक-समर्थित विचार, सत्य की दृढ़-एकनिष्ठ माँग, उनका तीव्र वैराग्य, उनका करुणित हृदय, उनका मधुर, गहरा और आलोकपूर्ण जीवन, उनकी उदात्त नैतिकता, तत्वज्ञान और मानव-चरित्र के बीच संतुलन की उनकी प्रक्रिया—इन सभी ने स्वामीजी महाराज में प्रबल उत्साह का संचार किया था।'१ बुद्ध का जीवन और उनके रूप की स्मृति मानो उनमें सदैव बनी रहती थी। ऊपर बाल्य-काल की घटना की चर्चा हम कर चुके हैं। परवर्ती-काल में श्रीरामकृष्णदेव जैसे अवतार-गुरु का आश्रय पाने के बाद भी वे चुपके-से निकलकर बोध-गया चले जाते थे—उसी बोधि-वृक्ष की छाया में ध्यान करने जहाँ बुद्ध को परम-ज्ञान प्राप्त हुआ था। बोध-गया के प्रति उनका आकर्षण प्रबल था और वहाँ उन्हें अद्भुत अनुभव हुए थे।

अपनी 'कर्मयोग' नामक पुस्तक में स्वामी जी ने आदर्श कर्मयोगी के रूप में बुद्ध को उच्चतम सम्मान प्रदान किया है: "उच्चतम दर्शन का उपदेश देनेवाले इस महान दार्शनिक को न्यूनतम पशु के लिए भी अत्यंत गहरी सहानुभूति थी और अपने लिए उन्हें कोई दावा नहीं था, किसी अधिकार की माँग नहीं थी। पूर्ण निष्काम तथा निःस्वार्थ भाव से कार्य करने के कारण वे आदर्श कर्मयोगी हैं, और मानवता का इतिहास धरती पर होनेवाले लोगों में उन्हें सर्वश्रेष्ठ बताता है—हृदय और मस्तिष्क का सर्वोच्च अतुलनीय समन्वय, धरती पर प्रकट होनेवाली आत्मशक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति! संसार के जाने हुए सुधारकों में वे प्रथम सर्वश्रेष्ठ महा-मानव हैं।"२ कभी-कभी उन्होंने बुद्ध के सम्बन्ध में उन्हें अपने आदर्श के रूप में भी बताया है। बुद्ध के प्रति स्वामीजी का यह महत् आकर्षण तथा उनके और स्वामीजी के जीवन की घनिष्ठ समानता को देखकर कोई भी चकित हो जाता है, मानो बुद्ध ने ही स्वामीजी के रूप में अपना दूसरा अवतार लिया हो। स्वामीजी सदैव अपने साथ बुद्ध की एक मूर्ति रखते थे, जिसे हम आज भी बेलुड़ मठ के उनके कमरे में पाते हैं।

दुःख के सम्पर्क में आने के बाद बुद्ध ने संसार का त्याग किया था। स्वामीजी ने भी वही किया। पीड़ा के दंश ने उनके हृदय का इतना विस्तार किया कि वे समग्र मानवता को अपने आलिंगन में समेट सके। छात्र जीवन में ही उन्हें देखकर श्रीरामकृष्ण ने कहा था: "दुःख और उत्पीड़न के सम्पर्क में आते ही नरेन (विवेकानन्द) के चरित्र का अभिमान गलकर अनंत करुणा की मुद्रा में बदल जायगा। उसका अदम्य आत्म-बल निराश और निरुत्साहित प्राणियों में फिर से श्रद्धा-विश्वास की स्थापना करेगा। और सुदृढ़ आत्म-संयम पर आधारित उसके आचरण की स्वच्छंदता—अहम् की ऋतम्भर स्वाधीनता की अभिव्यक्ति की तरह—दूसरे लोगों की दृष्टि में तीव्रता से चमकेगी।"३

बोध-गया में बोधि-वृक्ष के नीचे बुद्ध को परम बोध की उपलब्धि हुई थी। स्वामीजी के जीवन के भी एक घटना-प्रसंग में उल्लेख है कि अलमोड़ा के निकट एक वट-वृक्ष के नीचे उन्होंने पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एक महत्तम समस्या का समाधान किया था।

परम बोध की प्राप्ति के बाद भगवान बुद्ध वाराणसी आए थे और उन्होंने सर्वप्रथम सारनाथ में 'धर्म-चक्र' का प्रवर्त्तन किया था। दूसरी ओर से देखें तो वाराणसी में ही स्वामीजी ने भी सर्वप्रथम अपनी प्रसिद्ध घोषणा की थी: "मैं यहाँ से जा रहा हूँ और लौटकर तबतक कभी नहीं आऊँगा जबतक समाज की जड़ता पर बम की तरह फूट न सकूँ और उसे कुत्ते की तरह अपना ईमानदार अनुगामी न बना लूँ," और मानवता को आशा के अपने संदेश का उपदेश प्रदान करने के लिए तत्काल ही संसार में घूमने लगे। अमेरिका यात्रा के कुछ ही काल पूर्व अपने गुरु-भाई स्वामी तुरीयानन्द से कही गयी उनकी प्रसिद्ध उक्ति पर ध्यान दीजिए: "हरि भाई!" विवेकानन्द ने रोकर

कहा, "मैं तुम्हारे तथाकथित धर्म को समझ नहीं सकता। ...... लेकिन मेरा हृदय बहुत, अत्यधिक विस्तृत हुआ है और मैंने (दूसरों के दुःखों का) अनुभव करना सीख लिया है। सच मानो, मैं अत्यधिक करुणित, पर-पीड़ा से द्रवीभूत अनुभव करता हूँ।"५ भावावेश से स्वामीजी का स्वर रुँध गया था। वे मौन हो गये। उनके गालों पर अश्रु-प्रवाह हो रहा था। उक्त घटना का उल्लेख करते हुए स्वामी तुरीयानन्द आगे कहते हैं: "तुम कल्पना ही कर सकते हो कि स्वामीजी के करुणा-द्रवित शब्दों तथा उनकी गरिमान्वित, महनीय उदासी को देखकर मेरे हृदय मे कैसी बेधकता गुजरी थी। मैं सोचने लगा: 'क्या ये हू-ब-हू बुद्ध के ही शब्द और उन्हीं की भावनाएँ नहीं हैं?' और मुझे स्मरण हुआ कि बहुत काल पूर्व, जब वे बोधि-वृक्ष के नीचे ध्यान करने बोध-गया गये थे, उन्हें भगवान बुद्ध का दर्शन हुआ था जो उनके शरीर में प्रविष्ट हो गये......मैंने स्पष्ट देखा कि मानवता के समग्र ताप-त्रास से, उसके समस्त उत्पीड़न एवं दुःखों से उनका धड़कता हुआ हृदय आविद्ध हो गया था।"६

बुद्ध ने समस्त मानवता को अपनाया था। गणिका अम्बपाली और एक नाई भी उनकी कृपा से धन्य हो गये थे। इसी तरह विवेकानन्द का हृदय भी पतितों और पद दलितों के प्रति तरलायित था। नर्त्तकी वेश्या दुर्गा, खेतड़ी का मोची और अलमोड़ा का दीन-हीन मुसलमान—सबने उनकी स्नेहांजलि पायी थी। उनके करुणार्द्र-हृदय से ये मर्मभेदी वाक्य उच्चरित हुए थे: "महात्मा मैं उसे कहता हूँ जिसका हृदय दीन-दुःखियों के प्रति द्रवित होता है, अन्यथा वह दुरात्मा है। जबतक लाखों लोग भूख और अशिक्षा में जी रहे हों, मैं प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को विश्वासघाती मानता हूँ जो उनकी कीमत पर शिक्षा प्राप्त करके उनपर किंचित् भी ध्यान नहीं देते ......मैं बार-बार जन्म ले सकता हूँ, और हजारों दुःख-कष्ट झेल सकता हूँ ताकि उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूँ जो जीवित है, एकमात्र ईश्वर जिसमें मेरा विश्वास है, जो सभी आत्माओं का सर्व-समुच्चय है—और सबसे बढ़कर दुष्ट—मेरा ईश्वर, दुःखी—मेरा ईश्वर, सभी मूलों और जातियों के दीन-हीन—मेरा ईश्वर, मेरी पूजा का विशेष लक्ष्य है।" अमेरिका में वे प्रायः भ्रमवश नीग्रो समझ लिए जाते थे, लेकिन उन्होंने कभी इसका प्रतिकार नहीं किया और न वे अपना परिचय ही देते थे। जब किसी ने उनसे पूछा कि दुर्व्यवहार से बचने के लिए वे क्यों नहीं अपना परिचय दे देते हैं, तो तत्काल उनका तीव्र उत्तर हुआ,—"क्या, दूसरे के मूल्य पर अभ्युदय।" नीग्रो ने उनके साथ इतना अधिक तादात्मय अनुभव किया कि अमेरिका में उनकी सफलता को उन्होंने अपनी ही सफलता के रूप में ग्रहण किया।

दर्शन के बौद्धिक ताने-बानों के सभी महाजालों को छोड़कर बुद्ध ने लोगों को व्यावहारिक नैतिक धर्म का वरदान उपलब्ध कराने की चेष्टा की। और, विवेकानंद ने भी लोगों को व्यावहारिक वेदान्त का उपदेश दिया। उन्होंने खेत-कारखाने, बाजार और कार्यालय तथा सामान्य जन-समुदाय तक अद्वैत-वेदान्त का वरदान पहुँचाया। उनकी इस उक्ति पर ध्यान दें: "गुह्य अव्यावहारिक वेदान्त को दैनिक जीवन मे उतरकर जीवन्त और काव्यात्मक होना ही होगा; निरर्थक, उलझावपूर्ण दुर्बोध पुराणों से निकलनी ही चाहिए स्पष्ट, व्यावहारिक और नैतिक विधाएँ; घबड़ा देनेवाले बहुविध योगवादों से छनकर अवश्य ही निकलना चाहिए एक अत्यन्त वैज्ञानिक और व्यावहारिक मनोविज्ञान—और यह सब एक ऐसे रूप में रखा जाय जो एक बच्चे के लिए भी सुलभ और बोधगम्य हो। यही मेरे जीवन का कार्य है।"९

'समवाय एव साधुः' अर्थात् समन्वय की लय ही साधुता है, और स्वर्णिम मध्यम मार्ग ही बुद्ध के उपदेश का प्राण है। यही बात स्वामी विवेकानन्द के साथ है।

अपने गुरु, श्री रामकृष्ण देव के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए उन्होंने एकता और समन्वय का उपदेश दिया। उन्होंने अपने आदर्श को अपने महान गुरु के नाम से स्थापित संघ के प्रतीक-चिह्न में सन्निहित किया है। वे कहते है: "प्राचीन धर्म निस्संदेह अच्छे थे, लेकिन इस युग के लिए यही नव-धर्म है--कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वय —ज्ञान और भक्ति का प्रसार सभी लोगों तक, निम्नतम स्तर तक होना चाहिए, वय, उम्र अथवा लिंग-भेद का ख्याल छोड़कर।"१० और जो सेवा की भावना बुद्ध ने अपने संघ में प्रवर्तित की— बहुजन हिताय बहुजन सुखाय— वही स्वामीजी के संघ के क्रिया-कलापों को भी जीवन्त बनाती है। उनके द्वारा प्रवर्तित आदर्शद्वय हैं: "आत्मनो मोक्षार्थम् जगद्धिताय च।" अर्थात् अपनी मुक्ति तथा संसार के कल्याण के लिए श्री रामकृष्ण संघ नियोजित है।

सार्वभौमता और तर्कप्राणता, अर्थात विवेक-युक्ति का समर्थन, बुद्ध की शिक्षाओं की प्रमुख विशेषताएँ हैं, उनके प्रधान गुण हैं। अपनी एक प्रसिद्ध उक्ति में स्वामीजी ने कहा है: "उस एकमात्र भावना के लिए—विश्वजनीन सार्वभौमता के लिए--अगर आवश्यक हो तो और सभी चीजों का त्याग कर दिया जाना चाहिए।"११ और फिर उन्होंने कहा: "और यह समन्वय सार्वभौम धर्म की ओर गतिशील निकटतम आदर्श होगा। ईश्वर की इच्छा से अगर ऐसा होता कि सभी लोगों के मनों में दर्शन, रहस्यवाद, भावना और कर्म—से सारे तत्व समानतापूर्वक और पूर्ण रूप से विद्यमान होते। यही पूर्ण मानव का मेरा आदर्श है.........इन चारों दिशाओं में लयबद्ध संतुलन को उपलब्ध होना मेरी दृष्टि में धर्म का आदर्श है।"१२

बुद्ध की यह घोषणा थी कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं सत्य का परीक्षण तथा उद्यमपूर्वक अपनी मुक्ति का समाधान करना चाहिए। उन्होंने लोगों को मात्र विश्वास करने के लिए नहीं बल्कि साधन-पथ पर चलकर स्वयं ही अनुभव करने की प्रेरणा दी। उनका आवाहन था: "एहि पश्य।" अर्थात आएँ और स्वयं अनुभव करें।" स्वामीजी भी इस पर अथक भाव से जोर देते थे कि "वास्तविक शिक्षा की पहली कसौटी यह है कि उपदेश तर्क या विवेक का विरोधी तो नहीं है।"१३ "धर्म अनुभूति है, यह कोई परिचर्चा, मतवाद या सिद्धान्त नहीं है, चाहे वे कितने भी सुन्दर क्यों न हों। यह अस्तित्व और जीवन है, रूपांतरणशील है, श्रवण, स्वीकार या मान्यता भर नहीं, यह समग्र आत्मसत्ता का अपने विश्वास में रूपांतरित हो जाना है। ऐसा है धर्म!"१४ फिर उन्होंने बताया: "इन योग-मार्गों में से कोई भी विवेक को नहीं छोड़ता इनमें से कोई तुम्हें अन्तर्दृष्टि बंद कर लेने के लिए या किसी प्रकार के पंडा-पुजारी के हाथों में अपनी सहज बुद्धि को सौंप देने के लिए नहीं कहता है इनमें से कोई भी तुम्हें किसी अति मानवीय दूत को अपनी श्रद्धा-भक्ति समर्पित कर देने के लिए नहीं कहता। इनमें से प्रत्येक योग-मार्ग तुम्हें विवेक से जुड़े रहने और उसे भली भाँति पकड़े रहने के लिए ही कहता है।"१५.

विशाल पैमाने पर अपने संघ में महिलाओं को संन्यस्त जीवन अंगीकार करने का अधिकार प्रदान करनेवाले सर्वप्रथम बुद्ध ही हैं। स्वामीजी को पढ़े हुए किसी भी व्यक्ति को भली भाँति मालूम है कि वे नारियों के अधिकार के महा समर्थक और प्रस्तोता थे और उन्होंने पुरुषों के लिए मठ होने के पूर्व महिलाओं के लिए ही इसे शुरू करना चाहा था: "इस कारण महिलाओं के लिए मठ आरंभ करना मेरा प्रथम प्रयास है। यह मठ या आश्रम अनेक गार्गी एवं मैत्रेयी और उनसे भी उच्चतर उपलब्धि की महिलाओं का उद्गम-स्थल होगा।"१६ विवेकानन्द के कुछ प्रमुख शिष्यों में महिलाएँ भी हैं जिनमें भगिनी निवेदिता अति विशिष्ठ थीं। निवेदिता लिखती हैं कि 'जन समूह और महिलाएँ'— ये शब्द सदैव स्वामीजी के होठों पर रहते थे।

जातिगत विशेषाधिकार की श्रेष्ठता एवं महत्व के प्रचलित तंत्र को ध्वस्त करते हुए बुद्ध ने 'ब्राह्मण' शब्द को पुनः परिभाषित करने की भरपूर चेष्टा की। स्वामीजी

भी रूढ़-जातिवाद और इनके विशेषधिकारों के प्रबल विरोधी थे। बुद्ध की तरह उन्होंने भी सच्चे ब्राह्मण को इस प्रकार परिभाषित किया : "हमारा आदर्श वह ब्राह्मण है जो आध्यात्मिक संस्कार और वैराग्य से संपन्न हो। ब्राह्मण-आदर्श से मेरा क्या तात्पर्य है? मेरा मतलब उस आदर्श-ब्राह्मणत्व से है जिसमें सांसारिकता का सर्वथा अभाव हो तथा सच्चा ज्ञान प्रचुरता से विद्यमान हो।"१७ "ब्राह्मण ही भारत में मानवता का आदर्श है, ···। वही महान अंतिम लक्ष्य था। इस प्रकार के ईश्वर-पुरुष ब्राह्मण को, जिसने ब्रह्म को जाना है और जो आदर्श एवं पूर्ण मानव है, अवश्य ही रहना चाहिए—उसका अभाव नहीं होना चाहिए।" १८ बौद्ध-धर्म के संघ में जातिगत भेद-भाव उसी प्रकार गल गये, जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ अपना पृथक-स्वरूप समुद्र में खो देती हैं। स्वामीजी के द्वारा स्थापित संघ में भी यही बात है।

तो क्या बुद्ध और विवेकानन्द में कोई अंतर नहीं है? हाँ, अंतर है, किन्तु वे अधिकतर बाह्य-औपचारिक और आकस्मिक हैं, आंतरिक और मौलिक नहीं। और ऐसे अन्तर उन दोनों के बीच समय के अंतराल के कारण हैं। बुद्ध के हुए पच्चीस-सौ वर्षों से अधिक हो गये और इस बीच मानवता की बहुत सारी समस्याओं का रूप बदल गया है, यद्यपि मौलिक समस्या— मानव को प्रकृति के बन्धनों में मुक्त करना, आज भी यथावत् है। भाषा और शब्दावली परिवर्तित हो सकती हैं, रास्ते, ढंग और विवरणों में जहाँ-तहाँ कुछ अंतर हो सकते हैं, किन्तु इन सभी विभिन्नताओं से बुद्ध का एक समानधर्मी व्यक्तित्व ही झाँकता है—समग्र पीड़ित मानवता के लिए करुणित हृदय जो उसे असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर पथ-निर्देश करता है। अगर बुद्ध उन्नीसवीं शताब्दी में हुए होते, तो संभवतः वे विवेकानन्द से भिन्न नहीं होते। तो क्या विवेकानन्द आधुनिक बुद्ध हैं? स्पष्ट उत्तर है—'हाँ'।

स्वयं भगवान बुद्ध की भविष्यवाणी के अनुसार उनके उपदेश और सिद्धांत करीब पाँच-सौ वर्षों तक शुद्ध रहे, तत्पश्चात् समय की प्रक्रियाओं से उनमें विकृति आ गयी। तब बारह-सौ वर्षों बाद स्वयं भगवान बुद्ध मानो महा शंकराचार्य के रूप में आये—विधेयात्मक ढंग से अपना उपदेश देने तथा दार्शनिक अभाव की पूर्ति करने के लिए और इस प्रकार राष्ट्र की समन्वयात्मक संस्कृति तथा उसके आध्यात्मिक मूल्यों को पुनर्जीवित करने के लिए। स्वामी विवेकानन्द आधुनिक बुद्ध हैं—शंकर के बारह-सौ वर्षों बाद पुनः एकबार आए हुए बुद्ध, जिनमें भगवान बुद्ध की उदार विस्तृत हार्दिकता तथा आचार्य शंकर की बौद्धिक-प्रखरता एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के साथ 'कर्मयोग' और 'राजयोग' का उनका अपना अद्वितीय संदेश भी है। इस तरह, उनमें हृदय, मस्तिष्क और हाथों का (भाव, विचार और कर्म का) अद्भुत समन्वय था— और ये सब उनके स्थितप्रज्ञ, आत्मसंयम के ध्यान-गर्भित संतुलन में एक हो गये। रोम्याँ रोलाँ लिखते हैं : "साम्य और समन्वय, इन दो शब्दों में विवेकानन्द की रचनात्मक प्रतिभा का सार व्यक्त किया जा सकता है। उन्होंने आत्मा के सभी पथों का आलिंगन किया। चारों योगों को उनकी समग्रता में—वैराग्य और सेवा, कला और विज्ञान, धर्म और कर्म परम आध्यात्मिक से अत्यन्त व्यावहारिक तक को स्वीकार किया। उनके द्वारा उपदिष्ट प्रत्येक मार्ग की अपनी सीमाएँ थीं, लेकिन वे स्वयं इन सभी मार्गों से गुजरे थे और उन्हें स्वीकार करते थे। चार घोड़ों वाले रथ के समान सत्य के चारों मार्गों के गति-सूत्र को संभाले हुए एक ही साथ उन्होंने एकता की दिशा में यात्रा की थी। वे समस्त मानवीय ऊर्जा के समवेत-लय के मूर्त-विग्रह थे।"१९

बुद्ध का संदेश पूरब की ओर गया और प्रसारित हुआ। विवाकानन्द ने उसे पश्चिम की ओर ले जाकर इस कार्य को पूरा किया। उन्होंने स्वयं घोषणा की है : "जिस तरह बुद्ध का संदेश पूरब के लिए था, ठीक उसी तरह मेरा संदेश पश्चिम के लिए है।" हालाँकि, उनकी अभिरुचियाँ विश्व-व्यापी थीं, तथापि उन्होंने बुद्ध और शंकर के संदेशों का ही समन्वय नहीं, समग्र आध्यात्मिक

भारत के संदेश को अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस देव —जिन्होंने बताया था कि सभी धर्म-पथ एक ही शाश्वत, अनन्त ईश्वरीय सत्य की ओर ले जाते हैं, के सार्वभौम ऐक्य के अद्भुत व्यावहारिक और गतिशील ईश्वरीय जीवन के प्रकाश में मानव मात्र के लिए विश्व-व्यापी संदेश के रूप में समन्वित और प्रस्तुत किया।

—अनुवादक : शितिकंठ बोधिसत्व

१. लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पृष्ठ १३९-४०
२. कर्मयोग, कम्पलीट वर्कंस ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, खण्ड-१. पृष्ठ-११५
३. रोम्याँ रोलाँ, लाइफ ऑफ विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पृष्ठ-१०
४. वही, पृष्ठ-२०.
५. वही, पृष्ठ-६४
६. वही, पृष्ठ-३४
७. लेटर्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ-१७५.
८. वही, पृष्ठ-३९९
९. वही, पृष्ठ-३२०
१०. वही, पृष्ठ-३१८
११. वही, पृष्ठ-१६९
१२. कम्पलीट वर्कंस ऑफ विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, खण्ड-२ पृष्ठ-३८६
१३. वही, खण्ड-२, पृष्ठ-३८८
१४. वही, खण्ड-२, पृष्ठ-३९४
१५, वही, खण्ड-२ पृष्ठ-३८७
१६. लेटर्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ-२८३.
१७. कम्पलीट वर्कंस ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड-३, पृष्ठ-१६९.
१८. वही पृष्ठ-२९३-९४.
१९. रोम्याँ रोलाँ, लाइफ ऑफ विवेकानन्द, पृष्ठ-३१०

□

विवेकानन्द और वर्तमान कालीन मानवतावाद

—श्रीमत स्वामी सोमेश्वरानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

मानवतावाद शब्द नया नहीं है। इतिहास में बुद्धदेव से शुरू कर सुकरात, ईसा मसीह, चैतन्यदेव होकर, वर्तमान काल में रसेल, मार्क्स, सार्त्र, बेकेट, बर्नार्ड शॉ तक प्रत्येक युग में मनीषियों के कण्ठ से मानवतावाद की वाणी हमलोग सुन पाते हैं। विभिन्न युगों में जब भी सामाजिक मूल्य-बोध विपर्यस्त हुआ है, व्यक्ति के हाथों समाज का अथवा समाज के हाथों व्यक्ति का अस्तित्व विपन्न हुआ है, तभी मानवतावाद की पुकार हुई है। वर्तमान संसार में समस्याएँ गंभीर हैं। रेनासाँ अथवा नवजागरण के आलोक में निश्चय ही व्यक्ति-सत्ता की जय घोषित हुई है, किन्तु उसके साथ ही फिर राजनीति-अर्थनीति-सामाजनीति के नूतन मूल्य बोध से व्यक्ति-सत्ता नये रूप में आक्रान्त हुई है। एक ओर संयुक्त परिवार टूटता जा रहा है, दूसरी ओर जातीयता, प्रादेशिकता, दलीय मनोभावना के दबाव से मनुष्य को सामाजिक जीव के रूप में देखा जा रहा है। एक ओर इस व्यक्ति- सत्ता के विलोप का सार्त्र, बेकेट विरोध करते हैं तो दूसरी ओर मार्क्स और उनके प्रेमी-गण सामाजिक मानसिकता का समर्थन करते हैं। एक मध्यम पथ चुन लेने के लिए बर्नार्ड शॉ और रसेल

संग्राम कर गये हैं। इस समस्या को और भी गंभीर भाव से हर्बर्ट मार्क्यूज, मार्शल मैकलुहान आदि प्रमुख पंडितगण उठा गये हैं।

इस प्रकार वर्तमान समय में हमलोग मानवतावाद को मोटे तौर पर तीन धाराएँ देखते हैं—ईसाई, मार्क्सीय तथा अस्तित्ववादी (existentialist)। पहली धारा का अविर्भाव हुआ था दो हजार वर्ष पहले, दूसरी का गत शताब्दी में और तीसरी धारा अधिक प्रभावकारी हो उठी थी पच्चीस वर्ष पहले। ईसाई मानवतावाद का अवदान यद्यपि इतिहास में व्यापक है तथापि वर्तमान युग में यह मनुष्य को आकृष्ट नहीं कर पाता है, क्योंकि इन दिनों वैज्ञानिक ध्यान-धारणा विपरीत ढंग की है। जगत् और जीव के सम्बन्ध में इस युग की वैज्ञानिक और सामाजिक भावधारा एवं साहसी प्रश्नों का सामना करने की सामर्थ्य ईसाई मानवतावाद में नहीं है। इन दिनों इसका वास्तविक प्रयोग प्रासंगिक नहीं है। यह आधुनिक विचारधारा के साथ मेल खाने में अक्षम है। 'मेरा धर्म ग्रहण करो, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा'--यह विचार और जो हो, मानवतावाद के मूल पर ही कुठाराघात करता है।

अस्तित्ववादी मानवतावाद का अवदान विचार के क्षेत्र में यथेष्ट होने पर भी नीतिवाद की मौलिक समस्या को पकड़ नहीं पाने के कारण, यह अंत तक हताशावादी दर्शन में परिणत हो गया है। 'हम सब दूसरों के लिए स्वार्थ-त्याग करेंगे क्योंकि सब को ही रहना है।'— यह नीतिवाद खूब गंभीर नहीं है। यहाँ मूल उद्देश्य हो जाता है—अच्छी तरह बचे रहना। पशुओं के झुंड का एक पशु जिस कारण से अपने अन्य साथी पर आक्रमण नहीं करता, पाश्चात्य नीतिवाद उसी कारण से मनुष्य को संयत रहने कहता है। क्या सुख ही जीवन का उद्देश्य है? सुख ही यदि जीवन का उद्देश्य हो तो सुअवसर मात्र पाने से छुपकर दूसरे को धोखा देकर (जिस धोखे को पकड़े जाने की संभावना नहीं हो) मनुष्य और अधिक सुखी होने की चेष्टा क्यों नहीं करेगा? इसके अतिरिक्त, सुख का मानदण्ड भी तो सर्वत्र एक समान नहीं है! बच्चे का सुख और बूढ़े का सुख, वैज्ञानिक का सुख और सैनिक का सुख, स्त्री का सुख और पुरुष का सुख— सुख के संबन्ध में कोई भी सुनिर्दिष्ट धारना नहीं दे पाता। अस्तित्ववादी मानवतावाद की यही सबसे बड़ी समस्या है।

सर्वहारा वर्ग के प्रति दृष्टि-आकर्षण कर मार्क्सवाद ने निश्चय ही युग के एक प्रयोजन को समाप्त किया है, किन्तु काल के प्रभाव से इसने एक प्रकार की साम्प्रदायिकता की सृष्टि कर दी है। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त मध्यवित्त शिक्षित सम्प्रदाय ने जिस प्रकार समाज के प्रत्येक स्तर पर अपने प्रभाव का विस्तार किया है, उसे मार्क्स की भविष्यत् दृष्टि पकड़ नहीं पायी। फलतः आधुनिक विश्व में शिक्षित मध्यवित्त एवं युवा वर्ग जो एक विराट् प्रश्नचिह्न बनकर खड़े हो गये हैं उसके सामने मार्क्सवाद की अपूर्णता प्रकट हो गयी है। इसके अतिरिक्त राजनीति को प्रधान हथियार बना कर यह मतवाद आज साम्प्रदायिक दोष से दूषित हो गया है। मानवता की जो प्रधान विशेषता है—विरोधी मतवाद के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त करना अथवा सहिष्णु वार्तालाप-आलोचना को भी एक प्रकार का संग्राम मानकर स्वीकार करना—इस सम्बन्ध में मार्क्सीय मानवतावाद अनुदार है। सर्वहारा का नायकत्व वास्तव में शिक्षित मध्यवित्त और सामरिक नेताओं के एकाधिपत्य में पर्यवसित हो गया है कि नहीं, इस प्रश्न के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों के असहिष्णु हो उठने से मूल समस्या को ही यथावत हो जाना पड़ता है। भौतिकवाद के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण साधन से लक्ष्य को श्रेष्ठ मानकर देखना कहाँ तक उचित है, यह एक गंभीर प्रश्न है। आदर्श समाज के मूल चरित्र के साथ जिन सारे उपायों का सामंजस्य है उसके विपरीत उपाय का अवलम्बन कर निश्चय ही सत्ता पर अधिकार किया जा सकता है, किन्तु इससे आदर्श तक पहुँचने के मार्ग में नयी बाधाओं का सामना करना होगा। चीन और रूस की जनता इसे आजकल समझ रही है।

मानवतावाद की इन समस्याओं के मूल को ही

पकड़ कर खींचा था स्वामी विवेकानन्द ने। व्यक्ति की उपेक्षा कर समाज को शक्तिशाली बनाना भूल है—यह बात उनहोंने समझ ली थी। सामाजिक परिवेश, सामाजिक संस्था, सामाजिक विधान-कानून निश्चय ही व्यक्ति के ऊपर प्रभाव का विस्तार करते हैं किन्तु इन सब सामाजिक परिवेशों, संस्थाओं, नियम-कानूनों को बनाता है कौन ? मनुष्य ही तो! व्यक्ति-मानव एक ओर जिस प्रकार सामाजिक परिवेश से प्रभावित होता है, विजय से आनन्दित और पराजय से विषादग्रस्त होता है, दूसरी ओर वही व्यक्ति-मानव ही इस जय-पराजय और सामाजिक परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया को निरपेक्ष होकर देख पाता है और अपनी मननशीलता के सहारे एक स्वतंत्र अस्तित्व का अधिकारी होता है। मनुष्य के दो पक्ष हैं—सामाजिक और वैयक्तिक। एक ओर जो सामाजिक नियमों के द्वारा नियंत्रित होता है, वही दूसरी ओर सामाजिक ध्यान-धारणा और मूल्य-बोध से स्वतंत्र होकर निजी वैशिष्ट्य का अधिकारी होता है। ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक क्षेत्र में क्रान्तिकारियों का आविर्भाव इसी प्रकार सम्भव हुआ है। विवेकानन्द के मानवतावाद की यह पहली विशेषता है।

व्यक्ति के विकास क्षेत्र में स्वामी जी ने तीन पक्षों की बात कही है। दैहिक,मानसिक और वैयक्तिक भोजन-वस्त्र की सहायता से पहले का विकास तथा शिक्षा और संस्कृति की सहायता से दूसरे पक्ष का विकास होता है। समाज के द्वारा मनुष्य के इन्हीं दो पक्षों का विकास संभव है। किन्तु तीसरे पक्ष का विकास मनुष्य स्वंय करता है, और इस तीसरे पक्ष के विकास से ही मनुष्य बुद्ध. अशोक, सुकरात, न्यूटन, आइन्स्टीन, रामकृष्ण और विवेकानन्द के रूप में रूपान्तरित होता है। और जिस समाज में इस तृतीय स्तर के मनुष्य की संख्या जितनी अधिक होती है वह समाज उतना ही उन्नत होता है। इस ओर दृष्टि नहीं देकर केवल राष्ट्रनीति-अर्थनीति की सहायता से आदर्श समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता है। स्वामी जी द्वारा कथित मानवतावाद की यह दूसरी विशेषता है।

स्वामी विवेकानन्द के मानवतावाद की तीसरी विशेषता यह है कि उन्होंने भौतिकवाद और भाववाद (अध्यात्मवाद) इन दोनों में से किसी एक का परित्याग नहीं किया। भौतिकवाद का वास्तविक संसार के प्रति जो झुकाव रहा है उसे ग्रहण नहीं करने पर मनुष्य शारीरिक और मानसिक भाव से सहज ही सुगठित नहीं हो पाता है। स्वामी जी ने इसीलिए भौतिकवाद की इस विशेषता का स्वागत किया है। साथ ही साथ संसार के दर्शन की ज्ञानतत्व शाखा में (epistemology) ज्ञान का आत्ममुखीन विवेचन मनुष्य के जीवन में सबसे बड़े रहस्य का उन्मोचन करने का आग्रही हो उठता है, इस विषय से भी उनकी दृष्टि नहीं हटी। इसीसे हम स्वामीजी में देखते हैं एक समन्वयी जीवन दर्शन। यह समन्वयीभाव धारा इन्होंने वेदान्त दर्शन में पायी है। इसका तात्विक पक्ष उन्होंने लिया है उपनिषद् से और व्यावहारिक पक्ष लिया है श्रीरामकृष्ण के जीवन से। उपनिषद् की 'तत्वमसि' वाणी के बीच उन्होंने पाया है मानव सम्भावनाओं का अनन्त उत्स। मुक्ति को परलोक की वस्तु के रूप में नहीं ग्रहण कर इसे जीवन के भावावगाही असीम शक्ति-सौन्दर्य में परिणत करने का जो उद्‌बोधन किया श्रीरामकृष्ण ने, उसका ही जीवन के प्रत्येक स्तर पर प्रयोग करने को कहा स्वामीजी ने।

ये तीन ही हुईं स्वामीजी के मानवतावाद की प्रधान विशेषताएँ। विभिन्न युगों की परिक्रमा के अन्त में स्वामीजी इस सिद्धान्त पर आये थे जो एक ही साथ वैज्ञानिक और मानविक भी है। और उसके साथ ही उन्होंने देखा था—मानवतावाद किस प्रकार पंगु हो जाता है। सामाजिक क्रियाकलापों की चार मूल शक्तियाँ हैं—ज्ञान, शौर्य, अर्थ और शारीरिक श्रम। इन शक्तियों को समाज के प्रत्येक व्यक्ति के पास पहुँचा देने का दावा करता हुआ ही प्रत्येक युग में मानवतावाद का आविर्भाव हुआ है। यह जो विकेन्द्रीकरण का दावा है, यही कालक्रम से केन्द्रीकरण के द्वारा आक्रान्त होता है और समाज तथा व्यक्ति की स्वाभाविक प्रगति में बाधा

आ खड़ी होती है तथा मानवतावाद का उल्लंघन हो जाता है।

प्राचीन भारत, मिस्र और बेबिलोनिया ने ज्ञान चर्चा में अभूतपूर्व उन्नति की थी। किन्तु, बाद में पुरोहितों ने इस ज्ञान चर्चा को एकाधिकार का विषय बना लिया, जिसके फलस्वरूप सामाजिक मौलिक शक्ति "ज्ञान" केन्द्रायित हो उठा। तब मानवतावाद आत्म-प्रकाश करने को क्षत्रियों के द्वारा उद्यत हुआ। व्यासदेव के विपरीत मत को लेकर अविर्भूत हुए श्रीकृष्ण, जिन्होंने स्त्री और शूद्रों के सामने भी ज्ञान का असीम भांडार खोल दिया। इस प्रकार क्षत्रियों ने मानवतावाद को ही ग्रहण किया था, किन्तु काल-प्रवाह से सामन्त-प्रथा और क्षात्र-साम्राज्यवाद संकीर्णता से समाज की एक मौलिक शक्ति 'शौर्य' को उन्होंने निजी स्वार्थवश केन्द्रीभूत कर लिया। इसीका परिचय हम मध्य युगीन यूरोप में पाते हैं। यूरोपीय रेनेसाँ (पुनर्जागरण) का आविर्भाव इसी के विरोध में हुआ। 'सब के लिए स्वाधीनता'— इस वाणी के द्वारा ज्ञान और शौर्य समग्र समाज में विकेन्द्रीभूत हुआ। इसी स्वाधीनता के बहाने वैश्य शक्ति ने और एक सामाजिक मौलिक शक्ति 'अर्थ' को अपने वर्ग में केन्द्रित करने की चेष्टा की। शूद्र जागरण इसी के विरोध में हुआ दिखाई देता है। मार्क्स और एँगेल्स यहीं रुक गए हैं, किन्तु स्वामीजी रुके नहीं। स्वामी विवेकानन्द ही भारत के प्रथम मनीषी थे जिन्होंने अपने को 'समाजवादी' कहकर घोषणा की थी और फिर उसके साथ ही कहा था कि समाजवाद श्रेष्ठ आदर्श नहीं है। अपनी प्रज्ञा-दृष्टि से उन्होंने देखा था कि शूद्र-जागरण के फलस्वरूप जो विकास संभव होगा वह काल के प्रवाह से नव पूँजी-वादियों (Neo-Bourgeoisie) के द्वारा आक्रान्त होगा। शूद्र शक्ति की दुहाई देकर यही नव पूँजीवादी (समाज-साम्राजवादी या हठवादी वामपन्थी इन लोगों का चाहे जो भी नाम क्यों नहीं दें) क्रम से सामाजिक शक्तियों को अपने स्वार्थ के लिए केन्द्रीभूत करेंगे। इसी से स्वामीजी शूद्र-जागरण पर ही रुक नहीं जाते हैं। उनका क्रान्ति चिंतन इसी से एक चिर प्रवाहिनी सरिता है। सामाजिक मौलिक शक्तियों को विकेन्द्रायित करने के लिए मानव को इसी कारण से उन्होंने सदा जाग्रत रहने की गुहार की।

पृथ्वी के संकटों के समाधान के लिए चाहिए स्वामी विवेकानन्द का मानवतावाद। और भी गंभीर अध्ययन के द्वारा, और भी परिणत चिंतन के द्वारा, अनुध्यान के द्वारा, और भी अधिक मात्रा में इसे वास्तविक बनाना होगा। स्वामी जी के विचार को लेकर वर्तमान विश्व में नये रूप से और अधिक विवेचन की आवश्यकता है। केवल पश्चिमी देशों में ही नहीं, रूस और चीन की तरह मार्क्सवादी देशों में भी आज विवेकानन्द के विचारों पर चिंतन करने का यह आग्रह हमलोग देखते हैं। भारतवर्ष में हमलोगों की ओर से अभी इस विषय में जागरूक होने की बारी है।

□

राष्ट्रद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द

—श्रीमत स्वामी आत्मानन्दजी महाराज
सचिव, रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर।

भारत के राष्ट्रीय जागरण के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। यद्यपि स्वामीजी मूलतः भारत के धर्म और अध्यात्म के प्रवक्ता थे, तथापि उनकी दृष्टि देश के भौतिक पक्ष से कभी ओझल नहीं हुई। उनके लिए सारा विश्व एक नीड़ होते हुए भी, परतंत्र, पददलित भारत की व्यथा उनकी व्यथा थी। वे अध्यात्मवादी होते हुए भी भारत के दुःख से कातर थे। वे सही अर्थों में देश के भक्त थे, राष्ट्र के पुजारी थे। पर उनकी देशभक्ति दूसरे राष्ट्रवादियों के राष्ट्रप्रेम से भिन्न थी। अमेरिका से लौट आने के बाद मद्रास में 'मेरी समर-नीति' नामक विख्यात भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, "लोग देशभक्ति की चर्चा करते हैं। मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ और देश भक्ति के सम्बन्ध में मेरा भी एक आदर्श है।" और यह कहकर उन्होंने उस आदर्श को तीन सोपानों में व्यक्त किया था। पहला सोपान है हृदय—अनुभव की शक्ति। स्वामीजी पूछते हैं, "क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशु-तुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय में अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादलों ने सारे भारत को ढक लिया है?······क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या तुम इस चिन्ता में विभोर हो? अपने नाम-यश, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसर गये हो? ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देश भक्तो, यदि तुम सचमुच ऐसे हो गये हो, तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है —हाँ केवल पहली ही सीढ़ी पर।"

इतना कहकर स्वामीजी दूसरे सोपान की चर्चा करते हुए कहते हैं, "माना कि तुम अनुभव करते हो, पर पूछता हूँ, क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्ति क्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्त्तव्य-पथ भी निश्चित किया है? ठीक है कि तुमने कर्त्तव्य-पथ भी निश्चित कर लिया।" पर, स्वामीजी आगे कहते है, "इतने से ही पूरा नहीं होगा।" वे पूछते हैं, "क्या तुम पर्वतकाय विघ्न-बाधाओं को लाँधकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे स्त्री-पुत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य लक्ष्मी तुमसे रूठ कर चली जाय, नाम-किर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या, तुम उस सत्य में लगे रहोगे?··· बस यही तीसरा सोपान है।"

यह कसौटी है राष्ट्र प्रेम की, जो स्वामी विवेकानन्द हमारे समक्ष रखते हैं। उनका स्वयं का जीवन इस कसौटी पर खरा उतरा था। इसलिए तो हम उन्हें राष्ट्र-द्रष्टा का अभिधान देते हैं। जिस समय, अमेरिका जाने के पूर्व, वे कन्या कुमारी में सागर-तट से लगभग चार फर्लांग दूर, समुद्र के बीच स्थित शिलाखण्ड पर जाकर बैठे थे, तब उनका हृदय भारत की असंख्य समस्याओं के विचार से मथा जा रहा था। वे सोच रहे थे कि इस देश के पतन का क्या कारण है? क्या कारण है कि देवताओं और ऋषियों के लाखों वंशधर आज पशुतुल्य हो गये हैं? उस शिलाखण्ड पर बैठे हुए स्वामीजी गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये। भारत का सम्पूर्ण अतीत, वर्तमान और भविष्य उनके ध्यान में मानो साकार हो उठा, और तब किसी ने मानो उनके मनश्चक्षु के सामने पड़े

हुए अन्धकार के पर्दों को उठा दिया। अद्‌भुत दर्शन था वह। जागतिक समस्त भेदभावों के परे, उन्होंने भारत की सनातन अखंड आत्मा के दर्शन किये। वहाँ न बंगाल था, न पंजाब, न मद्रास था, न महाराष्ट्र। था केवल भारत और उसकी शाश्वत अखण्डता--समस्त भौगोलिक सीमाओं के परे, जातीयता की बू से दूर--बहुत दूर। शत-शत शताब्दियाँ उनकी आँखों के सामने बिछ गयीं और उन्होंने देखा भारतीय संस्कृति की वास्तविकता को, उसकी अगाध शक्तिमत्ता को। देखा कि भारत अभी भी जीवित है, राख से ढकी अग्नि के सामने उसकी चेतना अन्दर ही अन्दर अभी भी सुलग रही है। देखा कि राख को दूर भर करना है, फिर तो आग, स्वच्छन्द बहती हुई हवा के संयोग से आप ही धधक उठेगी! देखा कि धर्म ही यह अग्नि है, जिस पर अन्धविश्वास और कुसंस्कार की राख स्तूपाकार जम गयी है। ये अन्धविश्वास कैसे पनपे? पुरोहितों की स्वेच्छाचारिता से, उनके अत्याचारों से, जाति-भेद की निर्मम कठोरता से और इन सबके फलस्वरूप उत्पन्न अन्य सामाजिक विषमताओं से। इन सबने मिलकर धर्मभीरु, सरल-हृदय, निष्कपट लोगों को तो नीच और अस्पृश्य बना दिया और जो वृथा जाति के अभिमानी, धर्मध्वजी, पाखण्डी जन थे, उन्हें समाज का सिरमौर करार दिया! यही भारत के अधिकांश जन समुदाय की गरीबी का कारण है। ये दीन और गरीब एकबार और जो कुचल गये तो कुचलते ही गये, वे फिर न उठ सके। भारत के इन दीन- दुखियों की याद से स्वामीजी की आँखें गीली हो आयीं। उन्होंने देखा कि धर्म ही एक ऐसा तत्व है जो लक्ष-लक्ष भारतवासियों की नस-नस में रक्त से घुल-मिलकर प्रवाहित हो रहा है, यह धर्म उनके जीवन से उनकी आत्मा से मिलकर एक हो गया है। उन्होंने अनुभव किया कि धर्म भारत के पतन का दोषी नहीं है, वरन् धर्म को आचरण में न उतारना ही भारत की दुर्दशा का कारण है। उन्होंने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि जिस आध्यात्मिक भावसम्पदा के फलस्वरूप भारत सर्वदा से अन्य देशों का मुकुट बना रहा है तथा सफल धर्म-विश्वासों की जननी के रूप में पूजित हुआ है, उसी आध्यात्मिकता को एक बार पुनः जगाना होगा, पुनः उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी, तभी भारत जागेगा। भारत ने अपना व्यक्तित्व खो दिया है। अपने इस खोये हुए व्यक्तित्व को पुनः प्राप्त करने के लिए ऋषियों की इस संस्कृति का फिर से प्रचार करना ही एक मात्र उपाय है।

भारत के उस अन्तिम शिलाखण्ड पर बैठे हुए इस एकाकी युवा संन्यासी का हृदय भारत के तिरस्कृत और पददलित लोगों की आहों से व्यथित हो उठा। उनकी हृत्तन्त्री के तार भारत की नंगी, भूखी, अशिक्षित जनता की बेबसी के रागों में बँधे हुए थे। देश में चहुँ ओर व्याप्त दरिद्रता का नग्न आर्तनाद उन तारों को झनझना देता और स्वामीजी को प्रतीत होता, मानो कोई उनके हृदय को निचोड़ डाल रहा है। इस समय की अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने बाद को अपने एक पत्र में लिखा था, "इन सब विचारों ने, और विशेषकर, देश की गरीबी और अज्ञानता के विचारों ने मेरी नींद हर ली। कन्याकुमारी में, माता के मन्दिर में बैठे हुए, भारत के अन्तिम शिलाखण्ड पर बैठे हुए मुझे एक उपाय सूझ पड़ा--अच्छा, हमलोग इतने संन्यासी हैं, इधर-उधर घूमते रहते हैं, लोगों को दर्शन और ज्ञान की शिक्षा देते फिरते हैं— यह सब पागलपन है। क्या हमारे गुरुदेव यह नहीं कहा करते थे कि "भूखे पेट में धर्म नहीं सुहाता"? ये गरीब केवल अज्ञान के कारण पशुओं का-सा जीवन बिता रहे हैं। हम युगों से उनका रक्त चूसते रहे हैं, उन्हें पैरों-तले रौंदते रहे हैं। हम एक राष्ट्र के रूप में अपना व्यक्तित्व खो चुके हैं और यही भारत में सारी गड़बड़ी का कारण है। हमें राष्ट्र को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व पुनः प्रदान करना है और जन-समुदाय को ऊपर उठाना है"

पर यह किस तरह से सम्भव हो? स्वामीजी ने सूक्ष्म दृष्टि से देखा कि "त्याग" और "सेवा" ही भारत के दो चिरन्तन आदर्श रहे हैं। यदि हम भारतीय जीवन में इन

दो आदर्शों को गतिशील बना सके, तो अन्य समस्याएँ आप-ही-आप हल हो जाएँगी। भारत में त्याग ही सदा से शक्ति का महान स्रोत रहा है। अतः इस विकट परिस्थिति में देश की पीड़ित, पददलित जनता को ऊपर उठाने के लिए उन्होंने त्यागी पुरुषों का ही मुँह जोहा। उन्हें पूरी आशा थी कि प्रत्येक नगर में उन्हें ऐसे दस-बारह युवक ऐसे मिल जाएँगे जो उन्हें उनके इस कार्य में हाथ बँटाने के लिए आगे बढ़ जायेंगे। पर युवक ही तो सब कुछ नहीं थे। इस कार्य के लिए प्रचुर धन की भी आवश्यकता थी। वह कहाँ से आये? वे तो कौड़ी-शून्य संन्यासी थे। अपने पर्यटन काल में उन्होंने कई अमीरों और राजाओं से भेंट की थी। और उनके समक्ष अपनी योजनाएँ रखी थीं। पर शाब्दिक सहानुभूति के अतिरिक्त उन्हें और कुछ प्राप्त नहीं हुआ था। उन लोगों के सम्बन्ध में वे बाद में लिखते हैं, "वे तो स्वार्थ के पुतले हैं—वे, और दमड़ी खर्च करें!" तब धन कैसे प्राप्त हो? धन की समस्या उनके सामने लहराते हुए सागर की गहराई के सामन ही अथाह थी। स्वामी जी निराश हो गये। अपनी इस बेबसी पर उनका हृदय रो उठा। अन्तर की विगलित करुणा नेत्रों के मार्ग से बाहर झरने लगी। तभी, अचानक, निराशा की उस सघन मेघमाला को चीरते हुए कहीं से प्रकाश की रेखा खिंच आयी। "हाँ" उन्होंने निश्चय किया, "मैं समुद्र को पार कर अमेरिका जाऊँगा। वहाँ अपने मस्तिष्क की शक्ति से धन कमाऊँगा और भारत लौटकर अपने देशवासियों को ऊपर उठाने के लिए अपनी योजनाओं को मूर्त्त रूप देने की कोशिश करूँगा। इस प्रयत्न में प्राण रहें या जायें, इसकी तनिक चिन्ता नहीं।"

भारत की राष्ट्रीय चेतना के इतिहास में कन्याकुमारी का यह शिलाखण्ड अपना विशिष्ट स्थान रखता है। युगों से प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न भारत की राष्ट्रीय चेतना आज विवेकानन्द के अनन्त विस्तारित, संवेदनशील हृदय में एक बार फिर से जाग उठती है। भारत के भाग्य जाग उठते हैं। आत्मद्रष्टा विवेकानन्द आज युग-द्रष्टा आचार्य हो जाते हैं। इसी समय से उनका जीवन सर्वतोभावेन भारत की सेवा में समर्पित हो जाता है और यहाँ के 'अछूत नारायण', 'भूखे-नंगे नारायण', 'उत्पीड़ित और दलित नारायण' स्वामीजी के विशेष सेव्य हो जाते हैं। भारतीयों की सेवा के सामने निर्विकल्प समाधि का ब्रह्म-साक्षात्कार और ब्रह्मानन्द गौण हो जाता है। स्वामीजी आज अपने ही शब्दों में Condensed India हो जाते हैं। अब उनकी एकमात्र प्रार्थना है भारत के सर्वांगीण कल्याण की। अब धर्म एक नया रूप लेकर उनके सामने उपस्थित होता है। अब धर्म केवल वेदों के, उपनिषदों के, ऋषियों की ध्यान-तपस्या अथवा आत्मानुभूति के रूप में ही उनके सम्मुख नहीं आता, वरन् वह तो अब जन-समुदाय के हृदय-स्पंदनों का, उनकी मुरझायी हुई जीवन-लता और मिटी हुई आशाओं का, उनकी टीस और आहों का, उनकी कुचलती हुई भावनाओं और गिरे हुए जीवन-स्तर का रूप लेकर सामने आता है। ध्यान की उस प्रगाढ़ तन्मयावस्था में स्वामीजी भारत के लिए उस शक्ति के अनन्त स्रोत का द्वार उद्घाटित कर देते हैं, जिसके बल पर भारत पुनः सच्चे अर्थों में विश्व का पथ-प्रदर्शक होनेवाला है। तभी तो उस राष्ट्रद्रष्टा ने बाद में अपने एक पत्र में लिखा था, "अब भारत माता जाग उठी है। अब संसार की कोई भी शक्ति उसका पथावरोध नहीं कर सकती।"

■

स्वामी विवेकानन्द का हृदय-परिवर्तन

—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य
रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर

विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रसिद्ध वकील थे। दूर-दूर तक उनकी प्रसिद्धि थी और सारे भारत में उनके मुवक्किल फैले हुए थे। फलस्वरूप आय अच्छी-खासी हो जाया करती थी। परन्तु उदार-स्वभाव, दानशीलता और बन्धुवत्सलता की वजह से वे कुछ जोड़ नहीं पाते थे। पैसे, जैसे उनके पास पानी की तरह आते वैसे ही निकल भी जाया करते। उनके बहुत से, कुटुम्बी व दूर के नातेदार भी उनकी छत्रछाया में जीवन-यापन किया करते थे। उनके आश्रितों में कोई-कोई आलस्यपूर्ण जीवन तो बिताते ही थे, ऊपर से भंग-तम्बाकू आदि नशीले द्रव्यों का नियमित सेवन किया करते थे और उनका पूरा खर्च जुटाने का भार विश्वनाथजी के ऊपर था। पिता की उदारता का यह दुरुपयोग उनके युवा पुत्र नरेन्द्रनाथ* से न देखा गया। एक दिन उसने उन्हें टोका और उनकी इस अपव्यता का विरोध किया। भावपूर्ण हृदय से पिता ने कहा—"बेटा, तू क्या जाने कि मनुष्य-जीवन कितना दुःखपूर्ण है? जब समझेगा तो, जो लोग इस दुःखजाल से कुछ क्षणों के लिए मुक्ति पाने का प्रयास कर रहे हैं, उनकी तरफ तू भी करुणा-पूर्ण दृष्टि से देखेगा।"

* * *

कुछ दिनों बाद नरेन्द्रनाथ का संपर्क दक्षिणेश्वर के प्रसिद्ध परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के साथ हुआ। उनकी तीक्ष्ण आध्यात्मिक दृष्टि से इस युवक की प्रच्छन्न महानता छिपी न रह सकी। शुद्धसत्व नरेन्द्रनाथ की ओर वे बहुत आकर्षित हुए। कलकत्ते से किसी युवक के आने पर वे उसके सम्मुख नरेन्द्रनाथ की खूब प्रशंसा करते और उससे मिलने को कहते। उनकी सलाह पर उनके युवक भक्तों में कोई-कोई नरेन्द्रनाथ से मिलने गये और लौटे उनके बारे में बुरी धारणा लेकर। नरेन्द्रनाथ का चाल चलन और बाह्याचरण लोगों को पसंद न आया। श्रीराम-कृष्ण ने धैर्यपूर्वक लोगों की आलोचना सुनी, फिर कहा—"हाँ! वह थोड़ा अंहकारी और दम्भी जरूर है, पर उसका यह अंहकार अन्य लोगों के अंहकार की तरह नहीं है वरन् यह उसके स्वाभिमान व आत्मविश्वास की वजह से है। भविष्य में जब वह जगत् के दुःख-कष्टों के संस्पर्श में आयेगा तो उसका दम्भ द्रवित होकर करुणा के रूप में परिणत हो जायगा"

* * *

समृद्धि की गोद में पलकर बड़े हुए नरेन्द्रनाथ अभी तक यह जानते ही न थे कि दुःख-कष्ट किस चिड़िया का नाम है। परन्तु कोई भी चिरकाल तक सुख नहीं भोग पाता। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख अवश्यम्भावी है। दुःख सदा से ही विश्व के महान् शिक्षकों की शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। नरेन्द्र नाथ के जीवन में भी इस शिक्षा सूत्रपात हुआ। वे बी० ए० की परीक्षा में बैठने की तैयारी कर रहे थे कि अचानक उनके पिता का देहावसान हो गया। विपत्ति कभी अकेली नहीं आती। नरेन्द्रनाथ को असहाय देख कर उनके वे ही संबंधी, जो उनके पिता के टुकड़ों पर पला करते थे, उन्हें पैतृक सम्पत्ति व मकान से वंचित करने की साजिश करने लगे। घर में माँ, बहन व छोटे भाई आधा पेट खाकर दिन गुजारते और नरेन्द्रनाथ नौकरी की तलाश में खाली-पेट और नंगे-पाँव सारे दिन कलकत्ते की गलियों की खाक छानते। जगत, कितना भीषण और दुःखपूर्ण है, आज उन्हें पता लग रहा है। उन्हें लगा कि यह जगत् किसी दैत्य की रचना है। 'जाके

* स्वामी विवेकानन्द के बचपन का नाम

पाँव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई' इतने कष्ट व मुसीबतों से होकर गुजरने के बाद नरेन्द्रनाथ दूसरों की पीड़ा अपने अंतर में अनुभव करना सीख चुके थे।

गुरुदेव की महासमाधि के पश्चात् उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और निकल पड़े एकाकी सारे भारत की पद-यात्रा को। साथ में था एक दंड, कमण्डलु, दो-एक पुस्तकें और उनका संवेदनशील हृदय। दरिद्र, दलित व पीड़ित जनता की दुरवस्था का उन्होंने अपनी आँखों से अवलोकन किया। वे उनके बीच रहे, उनके सुखों-दुःखों में हिस्सा बँटाया और बीच बीच में राजाओं व धनिकों से मिल कर उन्हें गरीब जनता की दशा-सुधार में योग देने की अपील की। पर प्रायः सर्वत्र ही उन्हें लोगों की हृदय हीनता का परिचय मिला। कड़वे-मीठे अनुभव करते वे भारतवर्ष के दक्षिणी छोर तक जा पहुँचे। दरिद्र व दलित देशवासियों की दुर्दशा देख दुःख से अभिभूत उनके हृदय में बार-बार यह प्रश्न उठ रहा था --'क्या इनके उद्धार का कोई भी उपाय नहीं है?" माता कन्याकुमारी के मन्दिर के पास ही सागर के बीच अवस्थित एक निर्जन शिलाखंड पर बैठ वे गंभीर ध्यान में लीन हो गए। आज उनके ध्यान का विषय 'ईश्वर' नहीं था। ईश्वरोपलब्धि तो उन्हें पहले ही हो चुकी थी। इसबार वे ध्यान कर रहे थे 'भारत की दलित जनता के उद्धार के उपाय पर।' भारतवासियों का प्राचीन गौरवमय अतीत और अधःपतित वर्तमान चित्र की भाँति उनकी आँखों के सामने तैर रहा था। उन्होंने सोचा दोष धर्म का नहीं है, वरन् धर्न का ठीक-ठीक पालन न करने की वजह से ही भारत की यह अधोगति दुर्गति हुई है। पर भूखे-दरिद्र देशवासियों के बीच धर्मप्रचार करना भी तो निरा पागलपन है। 'भूखे भजन न होंहि गोपाला' —खाली पेट धर्म नहीं होता है। पहले रोटी-कपड़े की व्यवस्था करनी होगी, फिर धर्मप्रचार। राष्ट्र को उसका खोया व्यक्तित्व लौटाना होगा, सर्वसाधारण को शिक्षा देकर उठाना होगा। इतने बड़े कार्य को शुरू करने के लिए पहले तो मनुष्य चाहिए फिर धन। मनुष्य तो कुछ थे उनके आदेश पर मर मिटने को उत्सुक, पर धन कहाँ से आये? हृदयहीन धनिकों से धन की आशा व्यर्थ थी। अतः उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं अमेरिका जाकर धनोपार्जन करेंगे और उसे लाकर अपने दरिद्र देशवासियों की उन्नति में लगेंगे।

अमेरिका प्रस्थान करने के पूर्व मांउट आबू में उनकी अपने कुछ गुरुभाइयों से मुलाकात हुई। वहाँ बातचीत के दौरान उन्होंने अपने एक गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्दजी को कहा था--"हरि भाई, मैं अभी भी तुम्हारा वह तथाकथित धर्म बिल्कुल नहीं समझता। पर मेरा हृदय काफी विस्तृत हो गया है। मैं दूसरों की पीड़ा में पीड़ा का अनुभध करना सीख गया हूँ। विश्वास करो, मुझमें करुणा का उदय हुआ है।" कहते-कहते उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे।

उपर्युक्त घटना का वर्णन करते-करते स्वामी तुरीयानन्दजी भावविह्वल हो उठे थे। कुछ क्षणों तक आश्रुसिक्त नयनों के साथ चुप रहने के बाद एक दीर्घ निःश्वास लेकर वे बोले, "स्वामीजी जब ये बातें कह रहे थे, उस समय मेरे मन में क्या चल रहा था, जानते हो? मैं सोच रहा था कि बुद्धदेव ने भी तो ऐसा ही अनुभव किया था, और ऐसी ही बातें कही थीं।...... मैं स्पष्ट देख रहा था कि जगत् की दुःखराशि से स्वामी जी का हृदय स्पन्दित हो रहा है। उनका हृदय था मानो एक बड़ी कड़ाही, जिसमें जगत् के सारे दुःखों को पकाकर एक मलहम तैयार हो रहा था।"

अमेरिका के शिकागो नामक महानगर में विश्व-धर्म-सम्मेलन आयोजित हुआ था। बहुत कठिनाइयाँ उठाने के बाद उन्हें उक्त सम्मेलन में हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व करने का सुयोग मिला। प्रथम दिन के ही परिचयात्मक संक्षिप्त व्याख्यान नें उन्हें प्रसिद्धि के शिखर पर उठा दिया। उन्हीं विवेकानन्द को, जिन्हें धनाभाव के कारण ठंढी रात रेलवे स्टेशन के पास पड़े एक खाली काठ के बक्से में ठिठुर-ठिठुर कर बितानी पड़ी थी, स्वागत करने के लिए शिकागो शहर की अनेक

आलीशान अट्टालिकाएँ खुल पड़ीं। उनकी कल्पना से अतीत, राजसिक विलासिताओं से सुसज्जित एक सुन्दर कमरे में उन्हें ठहराया गया। इस ठाट-बाट से युक्त परिवेश ने, उन्हें आनन्द देना तो दूर, उनके दिल के दर्द को और भी उभार कर रख दिया। मोटे गद्दों से सज्जित बिछौना उन्हें काँटों की सेज के समान चुभने लगा। अपने दुःखी देशवासियों की दशा याद कर वे रो पड़े—"कहाँ अमेरिका-वासियों का यह विलासिता और वैभव पूर्ण जीवन और कहाँ मेरे दरिद्र देशवासी जो अन्न-वस्त्र के अभाव में हाहाकार कर रहे हैं।" दुःख के आवेग में वे बिस्तर से उतर पड़े और यह कहते हुए जमीन पर ही लेट गये— "माँ, मैं इस नाम-यश का क्या करूँ जबकि मेरे देशवासी दरिद्रता के दलदल में फँसे हुए हैं। उधर मुट्ठी भर अनाज के अभाव में हम करोड़ों भारतवासी भूखों मर रहे हैं और यहाँ के लोग अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं पर लाखों रुपये खर्च कर रहे हैं। भारत के गरीबों को कौन उठायेगा? कौन उन्हें रोटी देगा? माँ! मैं उनकी सहयता कैसे करूँ? मेरा पथ प्रदर्शन करो।"

बाद में कई वर्षों के कठोर परिश्रम के द्वारा अमेरिका व इंगलैंड में धन एकत्र करने के बाद वे भारत लौटे। कलकत्ते के पास बेलुड़ नामक ग्राम में जमीन खरीद कर उन्होंने 'रामकृष्ण मठ' और 'रामकृष्ण मिशन' नामक संस्थाओं की नींव रखी जो आज भी अपने सैकड़ों शाखाओं के साथ अभाव ग्रस्तों की सेवा तथा राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति में संलग्न है।

६ जुलाई १८९६ को फ्रैंसिस लेगेट को लिखे एक पत्र में स्वामीजी ने अपने हृदय--परिवर्तन की बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की है। वे लिखते हैं—"मेरा विचार है कि मैं धीरे-धीरे उस अवस्था की ओर बढ़ रहा हूँ, जहाँ खुद 'शैतान' को भी, अगर वह हो तो, मैं प्यार कर सकूँगा। बीस वर्ष की अवस्था में मैं अत्यंत असहिष्णु और कट्टर था। कलकत्ते में सड़कों के जिस किनारे पर थियेटर है मैं उस ओर के फुटपाथ पर ही नहीं चलता था। अब तैंतीस वर्ष की उम्र में मैं वेश्याओं के साथ एक ही मकान में ठहर सकता हूँ और उनको तिरस्कार का एक शब्द कहने का विचार भी मेरे मन में न आयेगा। क्या यह अधोगति है? अथवा मेरा हृदय विस्तृत होता हुआ मुझे उस विश्वव्यापी प्रेम की ओर ले जा रहा है जो साक्षात् भगवान का स्वरूप है?

"कभी कभी मुझमें एक प्रकार का दिव्य भावावेश होता है। उस समय ऐसी इच्छा होती है कि मैं हर एक प्राणी को, हर एक वस्तु को आशीर्वाद दूँ—प्रत्येक से प्रेम करूँ, गले लगा लूँ और देखता हूँ कि बुराई एक भ्रान्ति मात्र है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी के बचपन के स्वाभिमान का हिमालय, जगत के दुःखों-कष्टों से तप्त होकर करुणा की गंगा के रूप में प्रवाहित हो चला था। सिर्फ भारतवासी ही नहीं, संपूर्ण विश्ववासी आज उस शीतल और पुनीत भागीरथी की धारा में अवगाहन कर, शांति व आनन्द का आस्वादन कर धन्य हो रहे हैं।

■

नारद-भक्ति-सूत्र

—श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

अमृतस्वरूपा च ॥३॥

च (एवं) [वह] अमृतस्वरूपा

यह भक्ति केवल परमा प्रेमरूपा नहीं है, यह अमृत-स्वरूपा भी है ॥३॥

सांसारिक प्रेम में प्रतिक्रिया है, उसका अंत है और उसमें विकार की संभावना है। यह प्रेम 'मैं, मेरा' इस अज्ञान का आश्रय लेकर उद्भूत और संवर्धित होता है। अज्ञान का फल है दुःख—अज्ञान रहने पर जन्म-मृत्यु के चक्र से निस्तार नहीं है। परम प्रेमरूपा भक्ति होने पर भी क्या उसमें सांसारिक प्रेम की भांति दुःख और मरण का प्रवाह है? इस आशंका की संभावना से देवर्षि नारद कहते हैं—नहीं, भक्ति अमृतस्वरूपा है, भय-मृत्यु के प्रवाह से रहित परमानन्द ही इसका स्वरूप है, जबतक देह में और देह का आश्रय लेकर सांसारिक पदार्थ समूहों में 'मैं', 'मेरा'—ज्ञान बना रहता है तब तक मुक्ति नहीं है। किन्तु, परा-भक्ति प्राप्त होने पर यह 'मैं' 'मेरा'—बोधरूप अज्ञान मिट जाता है और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं, "मैंने नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) को कहा था—देखा, ईश्वर रस के सागर हैं। क्या इस रस के सागर में डुबकी लगाने की तुम्हारी इच्छा नहीं होती? मान लो एक नाद में रस है, और तुम मक्खी हो, तो कहाँ बैठकर रस पियोगे? नरेन्द्र ने कहा, मैं नाद के किनारे बैठकर मुँह बढ़ाकर पिऊँगा। मैंने जिज्ञासा की, क्यों? किनारे में क्यों बैठोगे? उसने कहा—अधिक दूर जाने से डूब जाऊँगा और प्राण खो दूँगा। तब मैंने कहा—बच्चा, सच्चिदानन्द सागर में यह भय नहीं है। यह अमृत का सागर जो है, इस सागर में डुबकी लगाने पर मृत्यु नहीं होती, मनुष्य अमर हो जाता है। ईश्वर के लिए उन्मत्त होने पर मनुष्य पागल नहीं होता।……जिसे अज्ञान है वही कहता है कि भक्ति प्रेम की बराबरी नहीं कर सकती। इसी से तुम से कहता हूँ कि सच्चिदानन्द के सागर में मग्न हो जाओ।"

भगवान-प्राप्ति का जो आनन्द है उसका क्षय नहीं होता, व्यय नहीं होता, नाश नहीं होता। किसी कार्य के फलस्वरूप जो प्राप्त है, उस फल का ही नाश होता है। यह भक्ति तो किसी कार्य के फल से उत्पन्न कोई वस्तु नहीं है—यह तो सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही स्वरूप है। उस आनन्द स्वरूप को पा लेने पर और भय नहीं, मृत्यु नहीं। उस ब्रह्म के आनन्द का एक कण पाकर यह जगत् आनन्दमय हो गया है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति,
अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥४॥

यत् (जिसे) लब्ध्वा (लाभकर) पुमान् (पुरुष) सिद्धः भवति (सिद्ध होता है) अमृतः भवति (मृत्यु-भय से मुक्त होता है) तृप्तः भवति (परमा तृप्ति की प्राप्ति करता है) ॥४॥

जिस भक्ति को प्राप्तकर मनुष्य सिद्ध होता है, मृत्यु-भय से मुक्त होता है एवं परमा तृप्ति को प्राप्त करता है ॥४॥

भक्ति-लाभ से मनुष्य पूर्ण होता है, देव स्वरूप को प्राप्त करता है और परमा परितृप्ति की प्राप्ति करता है।

'सिद्ध होता है' कहने से भक्त अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों को प्राप्त करते हैं—यह समझना भूल होगी।

भक्त मुक्ति भी नहीं चाहते, ये सारी सिद्धियाँ तो अत्यन्त तुच्छ हैं। ''हीन बुद्धिवाले लोग ही सिद्धाई चाहते हैं। बीमारी ठीक करना, मुकदमा जिताना, पानी को पाँव-पैदल पारकर जाना, आग पर चलना, और किसी स्थान में कोई आदमी क्या बोलता है उसे कह पाना, यही सब। फिर स्वस्त्ययन कर रोग से चंगा करना—सिद्धाई है। जब तक थोड़ी सिद्धाई रहती है तब तक प्रतिष्ठा, लोक-सम्मान यही सब होते हैं। जो शुद्ध भक्त हैं, वे ईश्वर के पाद-पद्म को छोड़कर और कुछ नहीं चाहते। सिद्धाई का रहना एक महान् विपत्ति है।'' ''उन सबके रहने से क्या होता है? उन सब सिद्धाइयों के बन्धन में पड़कर मन सच्चिदानन्द से दूर चला जाता है। उन सब पर मन नहीं देना चाहिए। साधना में लगे रहने पर वे सब कभी-कभी अपने आप आ जाती हैं, किन्तु इन सब पर जो मन देता है वह यहीं रह जाता है भगवान की ओर आगे नहीं बढ़ पाता है।''

भक्त मन-प्राणों से केवल ईष्ट की सेवा करना चाहते हैं। भक्त की और कोई कामना नहीं होती। किन्तु वे तो भक्तवत्सल हैं—भक्ताधीन। भक्त के दूर रहना चाहने पर भी वे उन्हें अपनी गोद में खींच लेते हैं। उनके प्रेम का एक कणमात्र प्राप्त कर भक्त कृतकृत्य हो जाते हैं। कोई कामना ही उनकी नहीं रहती। उन्हें प्राप्त कर निश्चय ही सारे अभाव-बोध की परिसमाप्ति हो जाती है, तब फिर मुक्ति की कामना ही कैसे रहेगी? पहले ही कहा गया है—भक्ति ही अमृतरूपा है। इसलिए, भक्ति-लाभ से भक्त अमृत हो जाते हैं, मृत्यु का भय और रहता नहीं। देह का सुख-दुःख उनका नहीं होता—और सुख-दुःख जो घटित होता है सब कुछ ही उसी प्रेममय की लीला है—यह भाव पक्का होने के फलस्वरूप भक्त नित्य अमृत सागर में हिचकोले खाते हुए रहते हैं।

इन्द्रिय-ग्राह्य भोग्य वस्तु से कभी यथार्थ तृप्ति नहीं मिलती। भोग्य वस्तु मात्र ससीम है। फिर भोग के साथ आता है अवसाद। और संसार में कितना भोग कर पाते हो? ''सांसारिक प्राणी कहता है, क्यों कामिनी-कांचन से आसक्ति नहीं मिटती? उन्हें प्राप्त करने पर आसक्ति जाती है। यदि एकबार ब्रह्मानन्द प्राप्त हो, तो इन्द्रिय सुख का भोग करने अथवा अर्थ-मान-संभ्रम के लिए, और मन दौड़ता नहीं। पंख वाली चींटी यदि एकबार प्रकाश देख ले तो फिर वह अन्धकार में नहीं जाती।''

''उनके लिए ही साधन-भजन। उनका चिन्तन जितना करोगे, उतनी ही संसार के सामान्य भोग की वस्तु में आसक्ति कमेगी। उनके पाद-पद्म में जितनी भक्ति होगी, उतनी ही विषय-वासना कम हो जायगी, उतनी ही देह-सुख की ओर दृष्टि कम होगी; परायी स्त्री में मातृत्व-बोध होगा, अपनी पत्नी में धर्म के सहायक बन्धु का भाव होगा, पशु-भाव चला जायगा, देव-भाव आयगा, संसार में पूर्णतः अनासक्त हो जाओगे। तब यद्यपि संसार में रहो तो जीवन्मुक्त होकर रहोगे।''

साधना की चरम अवस्था में साधक तृप्त होता है। जबतक वस्तु-लाभ नहीं हो, तबतक चाहिए व्याकुलता। साधन-भजन के फल से थोड़ा आनन्द-लाभ होते ही 'काफी हो गया'—यह समझना भूल होगी। ''साधन कर और भी आगे बढ़ो। साधन करते-करते और भी आगे जाने पर बाद में समझोगे कि ईश्वर ही वस्तु है और सारी चीजें अवस्तु हैं, ईश्वर लाभ ही जीवन का उद्देश्य है। और आगे जाने पर ईश्वर की प्राप्ति होगी। उनका दर्शन होगा। क्रमशः उनके साथ आलाप और बातचीत होगी।''

''एकबार उनके आनन्द का आस्वाद पाने पर उसी आनन्द के लिए दौड़-धूप करता है। तब संसार रहे या जाय। भगवान का आनन्द-लाभ होने पर संसार स्वाद-हीन प्रतीत होता है। तब कामिनी-कांचन की बात जैसे हृदय में पीड़ा पहुँचाती है। दुशाला पाने पर फिर मोटा कपड़ा अच्छा नहीं लगता। भगवान के आनन्द के सामने विषयानन्द और रमणानन्द! उनके रूप का चिन्तन करने पर अप्सराओं का रूप चिता-भस्म की तरह प्रतीत होता है।''

संतोष ही वस्तु लाभ का मापदण्ड नहीं है। और यहाँ जो तृप्ति की बात की गयी है, वह वस्तु-लाभ का

आनुषंगिक फल मात्र है। भक्त कभी भी तृप्ति लाभ की आकांक्षा नहीं करते। किन्तु दूसरे लोग देखते हैं कि भक्त ने ईष्ट वस्तु को प्राप्त करने के साथ ही परम परितृप्ति भी प्राप्त की है। भक्त सांसारिक दुःख का भी भय नहीं करते। चाहे जिस किसी अवस्था में ही वे क्यों नहीं रखें, केवल उन्हें नहीं भूलने से ही भक्त परम आनन्दित होते हैं।

प्रेम की प्राप्ति कर भक्त और कुछ नहीं चाहते। श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
भा० ११।१४।१४

'मेरे जिस भक्त ने मुझमें मन-बुद्धि अर्पण किया है वह मुझे छोड़कर ब्रह्मा का अधिकार, ईन्द्रत्व, समग्र पृथ्वी या पाताल का आधिपत्य, अष्टयोगसिद्धि या विदेहमुक्ति किसी की भी कामना नहीं करता।'

(क्रमशः)

स्वामी विवेकानन्द और सुभाषचन्द्र बोस

—शिशिर कुमार मल्लिक
राजेन्द्र कॉलेज, छपरा (बिहार)

श्री अरविन्द घोष तथा सुभाषचन्द्र बोस पर स्वामी विवेकानन्द का गहरा प्रभाव पड़ा था। विवेकानन्द को राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक जनक कहा गया है। —यह लाजपत राय का कथन है, यंग इंडिया में।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का जन्म २३ जनवरी, १८९७ को हुआ और स्वामी विवेकानन्द ने ४ जुलाई, १९०२ ई० को अपना शरीर-त्याग किया। स्वभावतः नेताजी को स्वामीजी से मिलने का सुअवसर प्राप्त नहीं हो सका। उन दिनों स्वामीजी की लहर पूरे बंगाल पर छायी हुई थी। इसीलिए कालान्तर में नेताजी भी स्वामी जी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

जब नेताजी कुछ बड़े हो गये तो वे शारीरिक जीवन के एक सबसे अधिक तूफानी दौर में प्रवेश कर रहे थे जो पांच या छः वर्ष तक चलता रहा था। यह तीव्र मानसिक द्वन्द्व का समय था जो ऐसे अकथनीय कष्ट और पीड़ा दे गया था जिसका साक्षी कोई भी मित्र नहीं हो सकता था और जिसे कोई बाहर से नहीं देख सकता था। संदेह है कि किसी किशोर को सामान्यतः इस अनुभव से गुजरना होता है। लेकिन इनकी मानसिक बनावट में किसी न किसी तरह की असामान्यता का स्पर्श था। ये न केवल अत्यधिक अंतर्मुखी वृत्ति वाले थे बल्कि कुछ मायनों में असमय परिपक्व भी थे। परिणाम यह हुआ कि जिस अवस्था में इन्हें फुटबाल के मैदान में अपने आप को थकाते रहना होता, इन्हें उन समस्याओं को लेकर चिन्ताग्रस्त होना पड़ा जिन्हें अधिक पकी उम्र के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए था। इनका मानसिक द्वन्द्व दुहरा था, प्रथमतः इनके सम्मुख सांसारिक जीवन और सामान्य सांसारिक कार्यकलापों का स्वाभाविक आकर्षण था जिसके विरुद्ध इनके उच्चतर अस्तित्व में विद्रोह की भावना पनप रही थी। दूसरे, सेक्स-चेतना का विकास हो रहा था जो उस अवस्था के लिए बिल्कुल स्वाभाविक था लेकिन जिसे ये अप्रकाकृतिक और अनैतिक समझते थे और जिसका ये दमन करना चाहते थे अथवा अतिक्रमण।

इन्हें जिस चीज की जरूरत थी और जिसके लिए ये अवचेतन रूप में चारों ओर टटोल रहे थे वह एक केन्द्रीय आशा थी जिसके ईर्द-गिर्द ये अपने सम्पूर्ण जीवन का ताना

जाना भुन सकते और इन्हें एक सबल संकल्प चाहिए था। ताकि जीवन क्रम और कोई भी आकर्षण-विकर्षण अस्त-व्यस्त नहीं कर पाए। इस आस्था या धारणा की खोज और उसके प्रति अपने जीवन को समर्पित कर देना कोई आसान काम नहीं था। अगर ये अनेक लोगों की तरह आरंभ से ही हथियार डाल देते अथवा अदम्य इच्छा-शक्ति के एक साहसिक प्रयास से किसी एक निश्चित धारणा पर टिक जाते तथा अन्य सभी लालसाओं को वीरतापूर्वक परे हटा देते, तो शायद इनकी पीड़ा मिट सकती अथवा काफी कम हो जाती। लेकिन ये हिम्मत हारने वाले नहीं थे। इनके भीतर कुछ था जो इन्हें पराजय स्वीकार नहीं करने दे रहा था। इसीलिए इन्हें लड़ते ही जाना था। और यह एक दारुण संघर्ष था, क्योंकि ये दुर्बल थे। इनके लिए जीवन का लक्ष्य खोज पाने की कठिनाई उतनी नहीं थी जितनी कि उस लक्ष्य के प्रति अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियो को केन्द्रित करने की भी। जब ये इस निश्चय पर पहुंच भी चुके थे कि इनके जीवन का सबसे अधिक वांछनीय उद्देश्य क्या है तब भी अपनी विरोधी एवं विद्रोही मनोवृत्तियों को नियंत्रित करके अपने भीतर शांति और सामरस्य स्थापित करने में इन्हें बहुत समय लग गया, क्योंकि यद्यपि इनकी आत्मा तत्पर थी, तथापि इनके पार्थिव अस्तित्व की दुर्बलता आड़े आ रही थी। अगर किसी की इच्छाशक्ति इनकी इच्छाशक्ति की अपेक्षा अधिक प्रबल होती तो समस्या शायद अधिक आसानी से हल हो जाती। उन्हीं दिनों एक घटना घटी जिसने नेताजी के जीवन को ही बदल दिया। नेताजी के शब्दों में—"एक दिन अकस्मात् ही मैंने अपने को ऐसी स्थिति में पाया जिससे संकट की उन घड़ियों में मुझे सर्वाधिक सहायता मिली। मेरे एक संबंधी जो हमारे शहर में नए-नए आए थे, हमारे बगल के मकान में रहते थे और मुझे उनके यहां जाना पड़ा। उनकी पुस्तकों के अन्तर्गत मेरी निगाह स्वामी विवेकानन्द के वाङ्मय पर पड़ी। मैंने उनके कुछ ही पन्ने पलटे होंगे कि मैंने महसूस किया यही तो है जिसकी खोज मैं व्याकुलता से कर रहा था। मैंने उनसे वे पुस्तकें मांग ली, उन्हें घर लाया और पढ़ने में जुट गया। इनका संदेश मेरी अन्तरात्मा में गहरेसे गहरा प्रवेश करता गया। मेरे प्रधानाध्यापक ने मेरी सौन्दर्यानुभूति और नैतिक भावना को जागृत किया था और यों मेरे जीवन को एक नयी प्रेरणा दी थी। लेकिन वे मुझे कोई ऐसा आदर्श नहीं दे सके थे जिसको मैं अपना सम्पूर्ण अस्तित्व समर्पित कर सकता, वह मुझे विवेकानन्द ने दिया।"१

वे उन पुस्तकों को दिन पर दिन, हफ्ते और महीने पर महीने पढ़ते चले गये। उन्हें सबसे अधिक प्रेरणा उनके पत्रों और कोलम्बो से लेकर अल्मोड़ा तक दिये गये भाषणों से मिली जिनमें देशवासियों के लिए व्यावहारिक प्रवचन थे। इस अध्ययन से उन्हें उनके विचारों का सार ग्रहण करने में सहायता मिली। आत्मनो मोक्षार्थम् जगत् हिताय"। अपनी मुक्ति के लिए और मानवता की सेवा के लिए जीवन का परम लक्ष्य है कि पूर्ण आदर्श न तो मध्य युग का आत्मनिष्ठ संन्यास हो सकता है और न बैन्थम तथा मिल का आधुनिक उपयोगितावाद। मानवता की सेवा के अन्तर्गत देश की सेवा भी निःसंदेह आ जाती है। स्वामीजी की प्रमुख शिष्या और जीवनी लेखिका भगिनी निवेदिता ने लिखा है—उनकी (स्वामीजी की) उपासना की अधिष्ठात्री देवी भारत माता थी। इस देश में कहीं भी किसी की भी आंखों में कोई आंसू उभड़े तो उसकी प्रतिक्रिया उनके मन में निश्चय ही होती थी। स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक मार्मिक भाषण में कहा है—"प्यारे भाइयों! चारों ओर यह सन्देश गूंजने दो कि यह नंगा और भूखा भारतीय, निरक्षर भारतीय, ब्राह्मण भारतीय और शूद्र भारतीय मेरा अपना ही भाई है। भविष्य के सम्बन्ध में स्वामीजी ने लिखा था कि "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के दिन लद चुके हैं और अब शूद्र की बारी है, भविष्य पद-दलितों का है।" उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की आधुनिक व्याख्या की। वे अक्सर कहा करते थे कि उपनिषदों का मूल मन्त्र है शक्ति। नचिकेता के समान हमें अपने आप में श्रद्धा रखनी होगी। स्वामीजी ने एकबार कुछ आलसी संन्यासियों की ओर मुड़कर कहा था, मुक्ति गीता रटने से नहीं फुटबाल खेलने से मिलेगी।"२ नेताजी के शब्दों में—"मैं उस समय मुश्किल से पन्द्रह वर्ष का था जब विवेकानन्द ने मेरे जीवन में प्रवेश

किया। इसके परिणामस्वरूप मेरे भीतर एक उथल-पुथल मच गई, एक क्रान्ति घटित हुई। स्वामीजी को समझने में तो मुझे काफी समय लगा लेकिन कुछ बातों की छाप मेरे मन में शुरू से ही ऐसी पड़ी कि कभी मिटाये नहीं मिट सकी। विवेकानन्द अपने चित्रों में और अपने उपदेशों के जरिये मुझे एक पूर्ण विकसित व्यक्तित्व लगे। मैंने उनकी कृतियों में उन अनेक प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर पाये जो मेरे मन में उस समय घुमड़ रहे थे या जो अस्पष्ट थे और बाद में स्पष्ट होकर सामने आये। मेरे प्रधानाध्यापक का व्यक्तित्व अब मेरे लिए इतना बड़ा नहीं रह गया था कि वह मेरा आदर्श बनता। इससे पहले मैंने सोचा था कि मैं उनका अनुकरण करते हुए दर्शन शास्त्र का अध्ययन करूँगा परन्तु अब मैंने उस मार्ग पर विचार करना आरम्भ किया जो मुझे विवेकानन्द ने दिखाया था।"[३]

स्वामी विवेकानन्द के द्वारा नेताजी क्रमशः उनके गुरू रामकृष्ण परमहंस की ओर झुके। विवेकानन्द के भाषणों पत्रों आदि के संग्रह छप चुके थे और सभी को सामान्य रूप से उपलब्ध थे। परन्तु रामकृष्ण बहुत कम पढ़े लिखे थे। और उनके कथन इस प्रकार उपलब्ध नहीं थे। वे जो भी जीवन जीते रहे उसके स्पष्टीकरण का भार उन्होंने औरों पर छोड़ दिया था। फिर भी उनके शिष्यों ने कुछ पुस्तकें और डायरियाँ प्रकाशित की जो उनसे हुई बातचीत पर आधारित थीं और जिनमें उनके उपदेशों का सार दिया गया था। इन पुस्तकों में चरित्र निर्माण के सम्बन्ध में सामान्यतः और आध्यात्मिक उत्थान के बारे में विशेषतः व्यावहारिक दिशा-निर्देश दिए गये हैं। रामकृष्ण परमहंस····बार-बार इस बात को दोहराया करते थे कि आत्मानुभूति के लिए त्याग अनिवार्य है और सम्पूर्ण अहंकार शून्यता के बिना आध्यात्मिक विकास असम्भव है। उन केउपदेशों में कोई नई बात नहीं थी। वे वस्तुतः उतने ही पुराने हैं जितनी भारतीय सभ्यता। हजारों वर्ष पूर्व उपनिषदों ने हमें बताया था कि सांसारिक वासनाओं के त्याग से ही अमर जीवन की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु रामकृष्ण के उपदेशों की विशेषता यह थी कि उन्होंने जो कुछ कहा उसी के अनुरूप अपने जीवन को ढाला और उनके शिष्यों के अनुसार वे आध्यात्मिक प्रगति की चरम सीमा तक पहुँच सके।

रामकृष्ण के उपदेशों का सार यह है कि कामिनी और कांचन का त्याग करो। इन दोनों के त्याग को ही वे किसी व्यक्ति की आध्यात्मिक जीवन के लिए उपयुक्तता की कसौटी मानते थे। वासना पर सम्पूर्ण विजय के अन्तर्गत काम वासना का उदात्तीकरण भी आ जाता है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के लिए प्रत्येक स्त्री केवल मातृ-स्वरूपा है।

नेताजी के शब्दों में—"शीघ्र ही मैंने अपने मित्रों की एक मण्डली बना ली (जिसमें मेरे सम्बन्धी एस० सी० एम० भी थे) जिनकी रूचि रामकृष्ण और विवेकानन्द में थी। स्कूल में और स्कूल से बाहर जब कभी हमें मौका मिलता हम इसी विषय की चर्चा करते। क्रमशः हमने दूर-दूर तक भ्रमण और यात्राएँ आरम्भ कीं जिससे हमें मिल बैठकर और अधिक बातचीत करने का अवसर मिले। हमारी संख्या बढ़ने लगी और हमारी मण्डली में एक ऐसा कम आयु का विद्यार्थी भी शामिल हो गया जिसका झुकाव आध्यात्मिकता की ओर था और जो बड़े भावपूर्ण ढ़ंग से भजन जा सकता था।"[४]

घर में और घर से बाहर इनकी ओर लोगों का ध्यान खिंचने लगा। इनके विचित्र कार्य कलापों के कारण यह अवश्यम भावी था। लेकिन विद्यार्थी इनकी हंसी उड़ाने का साहस नहीं कर पाते थे क्योंकि इनकी साख अच्छी थी और इनमें से कुछ लोग स्कूल में सर्वोच्च स्थान पाया करते थे परन्तु घर में ऐसी बात नहीं थी। इनके माता-पिता का ध्यान इस ओर गया कि ये अक्सर दूसरे लड़कों के साथ बाहर घूमने जाया करते हैं। इनसे पूछताछ की गई, नरम शब्दों में चेतावनी दी गई और फिर डांट पिलाई गई लेकिन इसका कोई नतीजा नहीं हुआ। ये तेजी से बदल रहे थे और ये अबोध बालक नहीं रह गये थे जो अपने माता-पिता की नाखुशी से डरा करता था। अब इनके सामने एक नया आदर्श था जिसने इनकी आत्मा को आलोकित कर दिया था। यह आदर्श था अपनी मुक्ति

को सम्भव बनाना और सभी सांसारिक इच्छाओं का त्याग करके तथा सभी अनावश्यक बन्धनों को तोड़कर मानवता की सेवा करना। अब ये संस्कृत के उन श्लोकों को नहीं दोहराते थे। जिनमें माता-पिता की आज्ञा का पालन करने का उपदेश होता था बल्कि ऐसे श्लोकों का पाठ करते थे जिनमें चुनौती स्वीकार करने को कहा गया था।

नेताजी के शब्दों में—"रामकृष्ण के त्याग और पवित्रता का उदाहरण मेरे लिए अपनी निम्न वृत्तियों से लगातार संघर्ष करते रहने को प्रेरित करता था और विवेकानन्द के आदर्श को लेकर मेरी टकराहट मेरे वर्त्तमान परिवार और सामाजिक व्यवस्था से हुई और चूँकि मैं दुर्बल था इसलिए संघर्ष लम्बे समय तक चलता रहा और सफलता बड़ी कठिनाई से मिल पाई। अतः मैं एक तनाव और अवसाद और कभी-कभी हताशा के वातावरण से गुजरता रहा।"५

यह कह सकना कठिन है कि इनका आन्तरिक द्वन्द्व अधिक कष्टदायक था या वाह्य संघर्ष। अगर कोई इनसे अधिक शक्तिशाली या कम संवेदनशील स्वभाव वाला व्यक्ति होता तो शायद अधिक तेजी से सफलता प्राप्त कर सकता या कम कष्ट पाता। लेकिन और कोई चारा नहीं था और इन्हें उन सब स्थितियों से होकर गुजरना ही पड़ा। जितना ही इनके माता-पिता इन्हें रोकने की कोशिश करते उतना ही अधिक ये विद्रोही होते जाते। ये अपनी चुनी हुई राह पर चलते जाने के लिए कृत संकल्प थे यद्यपि मन ही मन इन्हें लगातार विषाद का अनुभव हो रहा था। अपने माता-पिता की इस प्रकार की अवहेलना इनके स्वभाव के विपरीत थी और उन्हें कष्ट पहुँचाना इन्हें अच्छा नहीं लगता था लेकिन मानों कोई अदम्य प्रवाह था जो इन्हें आगे वहाये लिये जा रहा था।

जब उन्होंने पहली बार योगासन में बैठने का प्रयत्न किया तो समस्या यह थी कि यह कार्य किया कैसे जाय जिससे किसी की निगाह न पड़े और अगर कोई इन्हें योगासन में देख ले और इनकी हँसी उड़ाये तो उस स्थिति का सामना कैसे किया जाए। सबसे अच्छा तरीका इन्हें यह लगा कि सूर्यास्त के बाद अन्धेरे में योगासन पर बैठें और इन्होंने ऐसा ही करना आरम्भ किया। लेकिन एक दिन इन्हें किसी ने देख लिया और इन्हें खिलखिलाहट भी सुनाई दी।

रामकृष्ण का एक प्रिय कथन यह था कि ध्यान किसी वन में करो या घर के किसी शान्त कोने में या मन के भीतर, जिससे कोई भी तुम्हें देख न सके। केवल तुम्हारे सहयोगियों को ही इसकी जानकारी होनी चाहिए। कुछ समय तक यह सब अभ्यास करने के बाद, जिन्हें हम योग मानते थे अनुभवों का 'आदान-प्रदान' आरम्भ किया। रामकृष्ण ने प्रायः आन्तरिक स्तर के अनुभवों की चर्चा की है जिनमें असाधारण शक्तियों या सिद्धियों का जागरण भी शामिल है जिसका सामना आध्यात्मिक पथ पर चलने वालों को करना होता है और जिनके सम्बन्ध में रामकृष्ण ने अपने शिष्यों को चेतावनी दी है कि वे न तो प्रसन्नता का अनुभव करें, न उनका विज्ञापन करें और न उनका लाभ उठाएँ। अगर किसी को आध्यात्मिक चेतना के उच्तर स्तरों तक पहुँचना है तो उसे सामान्य स्तर के अनुभवों और सिद्धियों का अतिक्रमण करना होगा।

नेताजी के शब्दों में—"यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा कि धार्मिक जीवन की मेरी धारणा व्यक्तिगत योग तक सीमित थी। मैं यद्यपि योगासनों आदि के पीछे पागल हो जाया करता था। लेकिन धीरे-धीरे मुझे समझ में आने लगा कि आध्यात्मिक विकास के लिए समाज सेवा आवश्यक है। यह संभवतः विवेकानन्द के अध्ययन से पनपा क्योंकि उन्होंने मानवता की सेवा का उपदेश दिया था जिसके अन्तर्गत देश की सेवा भी आ जाती है। उन्होंने सभी से यह भी कहा था कि वे गरीबों की सेवा करें और गरीबों की सेवा करना ही भगवान की पूजा है। मुझे स्मरण आता है कि मैं तब भिखारियों, फकीरों और साधुओं के प्रति बहुत उदार हो गया था और जैसे ही उनमें से कोई मेरे द्वार पर दिखाई देता, मैं जो कुछ भी मिलता उसी से उसकी सहायता करता। किसी को कुछ देकर मुझे अद्भुत संतोष प्राप्त होता था।"६

स्कूल जीवन की समाप्ति के साथ-साथ इनकी धार्मिक रूचि और जोर पकड़ती गई। पढ़ाई का अब इनके लिए प्राथमिक महत्व नहीं रह गया था। अध्यापकों से इन्हे नियमतः कोई प्रेरणा नहीं मिलती थी केवल एक या दो ही अध्यापक अपवाद स्वरूप थे जो रामकृष्ण और विवेकानन्द के अनुयायी थे। इन्हीं दिनों इनके माता-पिता के गुरु कटक पधारे और वे जबतक रहे इनकी धार्मिक रुचि को और भी जागृत करते रहे। लेकिन उनकी प्रेरणा बहुत अधिक काम नहीं कर पायी क्योंकि वे संन्यासी नहीं थे।

इनका विश्वास था कि जीवन के आरंभिक वर्षों में जो छाप हम पर पड़ती है वह अधिक समय तक टिकती है, वह अच्छी हो या बुरी, और विकासशील बच्चे के मन पर उसका गहरा असर होता है। बचपन में प्रायः ये भूत-प्रेतों की कथाएँ, नौकरों से अथवा परिवार के बड़े-बूढ़ों से सुना करते थे। चांदनी रात में ऐसी कथाएँ सुनने के बाद छाया और प्रकाश में घिरे वृक्ष पर किसी प्रेत के अविर्भाव का भ्रम बहुत स्वाभाविक होता था।

नेताजी के शब्दों में—"अपने मन को अंधविश्वास से मुक्त करने के इस प्रयास में विवेकानन्द से, मुझे बहुत सहायता मिली। उन्होंने जिस धर्म की शिक्षा दी और योग सम्बन्धी उनकी जो भी धारणा थी उसका आधार वेदान्त था, जो एक युक्ति संगत दर्शन है और वेदान्त सम्बन्धी उनकी अवधारणा वैज्ञानिक सिद्धातों के विरूद्ध न होकर उन सिद्धांतों पर ही आधारित थी। उनके जीवन का एक प्रमुख कार्य धर्म और विज्ञान में समन्वय स्थापित करना था और उनके विचार से ऐसा वेदान्त के जरिए किया जा सकता था।"७

यद्यपि ये जिस वातावरण में पले और बढ़े वह कुल मिलाकर उदारतापूर्ण था, लेकिन कभी-कभी ऐसे भी मौके आए जब इनकी सामाजिक अथवा पारिवारिक रूढ़ियों से टकराहट हुई। एक घटना है। तब ये चौदह या पंद्रह वर्ष के थे। इनके एक सहपाठी ने, जो इनका पड़ोसी भी था, इन्हें रात्रि-भोज के लिए आमंत्रित किया। इनकी माता जी को इसकी जानकारी मिली और उन्होंने आदेश दिया कि किसी को भी नहीं जाना है। हो सकता है कि ऐसा इसलिए कहा गया हो कि उस सहपाठी की सामाजिक हैसियत इनकी हैसियत से घट कर थी, अथवा इसलिए कि वह इनसे निम्न जाति का था। लेकिन इन्हें माँ का आदेश अनुचित लगा और उनकी अवज्ञा करने में इन्हें कोई झिझक नहीं हूई।

नेताजी के शब्दों में—"उस समय तक विवेकानन्द के प्रभाव के कारण मुझे विश्वास हो चुका था कि आत्म-पूर्णता के लिए विद्रोह आवश्यक है—कि जब बच्चे का जन्म होता है तो उसका रूदन उस बँधन के विरुद्ध विद्रोह का ही प्रतीक है जिसमें वह अपने को पाता है।"८

१९१३ में ये मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में बैठे और पूरे विश्वविद्यालय में दूसरे स्थान पर रहे। इनके माता-पिता को इसकी अपार प्रसन्नता हुई और इनका बिस्तर कलकत्ता के लिए बंध गया।

नेताजी के शब्दों में—"किसी भी आधुनिक महा-नगर के जीवन की तरह कलकत्ता का जीवन भी सभी केलिए अच्छा नहीं है और अनेक होनहार लोगों का भविष्य वहाँ समाप्त हो गया है। मेरे मामले में भी शायद ऐसी ही दुर्घटना बढ़ती अगर मैं अपने मन में कुछ निश्चित विचार और सिद्धांत संजोकर वहाँ न गया होता। जब मैंने स्कूल छोड़ा तब यद्यपि में एक तूफानी संक्रमण काल से गुजर रहा था, लेकिन तब तक मैंने अपने लिए कुछ निश्चित निर्णय कर लिये थे यह कि चाहे जो कुछ भी हो, मैं लीक-लीक चलने वाला नहीं हूँ, मैं अपने आध्यात्मिक कल्याण और मानव के उत्थान में सहायक जीवन जीने जा रहा हूँ। दर्शन शास्त्र का गहन अध्ययन करूँगा जिससे मैं जीवन की मूलभूत समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सकूँ, व्यावहारिक जीवन में जहाँ तक संभव हो रामकृष्ण और विवेकानन्द के पद चिह्नों पर चलूँगा, और चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, मैं सांसारिकता की ओर नहीं मुड़ूँगा। यह दृष्टिकोण था जिसे लेकर मैंने अपने जीवन के नए अध्याय का श्रीगणेश किया।"९

यह पूरी तरह किसी व्यक्ति की मानसिकता पर निर्भर करता है कि वह किस हद तक अपने आंतरिक

जीवन का पुनर्निर्माण करना चाहेगा जिससे वह यथार्थ को नए सिरे से गढ़ने की ओर बढ़ सके। किसी के भी जीवन में कोई भी महान उपलब्धि, चाहे वह आन्तरिक हो या बाह्य, क्रांति के बिना संभव नहीं होती। और क्रांति के दो चरण हैं संशय या संदेह और पुनर्निर्माण।

नेताजी के शब्दों में—"मुझे विवेकानन्द और रामकृष्ण में जिस दर्शन की उपलब्धि हुई वह मेरी आवश्यकता के निकटतम था और मुझे वह आधार प्रदान कर सका जिस पर मैं अपने नैतिक एवं व्यावहारिक जीवन का पुनर्निमाण कर सका। उसने मुझे कतिपय ऐसे आदर्श दिए जिनके सहारे मैं अपने जीवन की किसी समस्या या संकट की घड़ी में अपने आचरण या कार्य-कलाप का मार्ग निश्चित कर सकता था।"१०

नेताजी को अपने आप से शायद सबसे तीव्र संघर्ष काम-वासना के क्षेत्र में करना पड़ा। इनका विश्वास था कि काम-वासना की पूर्ति से बचाव और कामोत्तेजना पर नियंत्रण आसानी से हो सकता है। लेकिन किसी को यदि वैसी आध्यात्मिक उन्नति करनी है जिसका निरुपण भारतीय योगियों ओर ऋषि मुनियों ने किया है तो केवल उतना ही यथेष्ट नहीं है। आवश्यकता होती है उस मानसिक पृष्ठभूमि की उन वृत्तियों और प्रेरणाओं को रूपान्तरित करने की जिनमें काम वासना, का उद्गम होता है। जब यह कार्य सिद्ध हो जाता है तो किसी स्त्री या पुरुष में कामोत्तेजना का संचार करने की क्षमता निःशेष हो जाती है तथा उस पर औरों की ऐसी क्षमता का कोई असर नहीं होता। वह वस्तुतः पूरी तरह कामातीत हो जाता है। परन्तु क्या यह सचमुच संभव होता है, अथवा क्या यह कोरी कपोल कल्पना है ?

नेताजी के शब्दों में—"रामकृष्ण के कथनानुसार, यह बिल्कुल संभव है और जबतक कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य की इस स्थिति को नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह आध्यात्मिक चेतना के उच्चतर स्तरों तक नहीं पहुंच सकता। कहा जाता है कि जिन लोगों को रामकृष्ण की आध्यात्मिकता एवं मानसिक पवित्रता पर संदेह था वे प्रायः उनकी परीक्षा लिया करते थे, लेकिन प्रत्येक बार जब उन्हें आकर्षक स्त्रियों से घिरा हुआ पाया जाता तो उनकी प्रतिक्रिया कामोत्तेजना-शून्य होती। स्त्रियों के संसर्ग में वे वैसा ही अनुभव करते थे जैसे कि कोई भोला बच्चा अपनी माँ के सम्मुख अनुभव करता है। रामकृष्ण सदैव कहा करते थे कि आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में कामिनी और कांचन दो सबसे प्रबल बाधाएँ हैं और मेरा उनके इस कथन में अविचल विश्वास था।"११

स्पष्ट है कि नेताजी के जीवनादर्शों, तथा उनके समाजसेवी, शौर्यपूर्ण, उदात्त एवं वलिदानी व्यक्तित्व के गठन और निर्माण में स्वामी विवेकानन्द के जीवन, कर्म और आदर्शों तथा उपदेशों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

१. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ३१
२. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ३२
३. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ३३
४. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ३४
५. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ३७
६. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ४०
७. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ४२
८. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ४३
९. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ४५
१०. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ४६
११. नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय : खण्ड एक : पृ० ४९

अग्नि-मंत्र

—स्वामी विवेकानन्द

तुम पवित्र तथा सर्वोपरि निष्ठावान बनो; एक मुहूर्त के लिए भी भगवान के प्रति अपना विश्वास न खोओ—इसी से तुम्हें प्रकाश दिखाई देगा। जो कुछ सत्य है, वही चिरस्थायी बनेगा, किन्तु जो सत्य नहीं है, उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। आधुनिक समय में जब कि तीव्र गति से प्रत्येक वस्तु की खोज की जाती है, हमारा जन्म होने के कारण हमें बहुत कुछ सुविधा प्राप्त हुई है। और लोग चाहे कुछ भी क्यों न सोचें, तुम कभी अपनी पवित्रता, नीति तथा भगवत्प्रीति के आदर्श को छोटा न बनाना। सभी प्रकार की गुप्त संस्थाओं से सावधान रहना, इस बात का सब से अधिक ख्याल रखना। भगवत्प्रेमियों को किसी इन्द्रजाल से नहीं डरना चाहिए। स्वर्ग तथा मर्त्य लोक में सर्वत्र केवल पवित्रता ही सर्वश्रेष्ठ तथा दिव्यतम शक्ति है। "सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येन पन्था विततो देवयानः।"—"सत्य की ही जय होती है, मिथ्या का नहीं; सत्य के ही मध्य होकर देवयान मार्ग अग्रसर हुआ है।" कोई तुम्हारा सहगामी बना या न बना, इस विषय को लेकर माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं है; केवल प्रभु का हाथ पकड़ने में भूल न होनी चाहिए, बस इतना ही पर्याप्त है।

(पत्रावली-द्वितीय भाग—पृ० २६-२७)

*　　*　　*

त्याग करो—उच्चतर वस्तुओं की प्राप्ति के लिए निम्न स्तर की वस्तुओं का त्याग करो। समाज की नींव क्या है?—नीति, सदाचार और नियम। त्याग करो। अपने पड़ोसी की धन-सम्पत्ति का अपहरण करने के मोह का त्याग करो, अपने पड़ोसी पर आघात करने की प्रवृत्ति का त्याग करो, दुर्बलों पर अत्याचार करने के आनन्द का त्याग करो, मिथ्या भाषण द्वारा दूसरों को ठगने के आनन्द का त्याग करो। क्या नैतिकता ही समाज का आधार नहीं है? विवाह भी व्यभिचार के त्याग के सिवा और क्या है? बर्बर व्यक्ति विवाह नहीं करता। समाज में रहनेवाला मनुष्य विवाह करता है, क्योंकि वह त्याग करता है। ऐसा ही सर्वत्र है। त्याग करो! त्याग करो! स्वार्थ त्याग करो! किस लिए? शून्य के लिए नहीं। व्यर्थ के लिए नहीं। किन्तु उच्चतर वस्तुओं की प्राप्ति के लिए।

(अलामीडा, कैलिफोर्निया में १८-४-१९०० ई० को दिये हुए भाषण के एक अंश का अनुवाद)

*　　*　　*

कठ उपनिषद् में देह की रथ, मन की लगाम, बुद्धि की सारथि, इन्द्रियों की घोड़ों और विषय की पथ के साथ तुलना की है, आत्मा को इस रथ का रथी बताया है। सारथि बुद्धि यदि मन की लगाम के सहारे इन्द्रियाश्वों को संयत न कर सके तो वह कभी भी लक्ष्य में नहीं पहुँच सकेगा, दुष्टाश्वों के समान इन्द्रियाँ रथ को जहाँ चाहें खींच ले जाकर आत्मारूपी रथी को मार सकती हैं।

ये दोनों इड़ा—पिंगला शक्तिप्रवाह दुष्ट अश्वों की रोकथाम के लिए सारथि के हाथ में लगाम के समान हैं। सारथि को इनका दमन करना चाहिए, करना पड़ेगा ही। नीति परायण होने की शक्ति हमें प्राप्त करनी ही है, नहीं तो हम अपने कर्मसमूह को किसी प्रकार भी वश में नहीं ला सकते। नीतिशिक्षाएँ किस प्रकार आचरण में परिणत की जा सकती हैं, योग इसी बात की शिक्षा देता है। नीति परायण होना ही योग का उद्देश्य है।

(सरल राजयोग—पृ० १२)

*　　*　　*

हमें जीवन निर्माण करने वाले, 'मनुष्य' बनानेवाले, चरित्र गठन करनेवाले भावों को आत्मसात् करना चाहिए। यदि तुम पाँच ही भावों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरे पुस्तकालय को कण्ठस्थ कर रखा है।

(भारत में विवेकानन्द—पृ० २५२-२५३)

पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों में, दुर्बलों में और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है, और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।

— स्वामी विवेकानन्द

This is the gist of all worship—to be pure and to do good to others. He who sees Siva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Siva; and if he sees Siva only in the image, his worship is but preliminary.

SWAMI VIVEKANANDA